

आधुनिक कवि : २

आधुनिक कवि

२

धोसुमित्रानन्दन पंत

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुख्य-भाषा	बेव पुरस्कार प्रत्यावली २
प्रकाशन वर्ष	वर्ष १८८६ एवं १९६४ ई०
संस्करण	ग्याख्या कीवृत्ति ५१० प्रविषी
मूल्य	० ३ २५
प्रकाशक	पीपातननर सिंह सन्निध प्रबन सासन निरुतय हिन्दी साहित्य सम्येकन प्रयन
मुखक	राम प्रताप निपाठी आरुनी सम्येकन मूरजाकय प्रयन

प्रकाशकीय

भूतपूर्व ओरछा राज्य प्राचीन काल से हिन्दी-साहित्य और कवियों में सम्मान करता आ रहा है। इस काम को वहाँ के अंतिम नरेश सवाई ज्येन्द्र सर बीरसिंहजी देव ने मजबूत रखा और संवत् १९९० वि० से तब तक किसी हिन्दी कवि के सम्मानार्थ २०००) का पुरस्कार देना शरम्भ किया था। संवत् १९९४ में प्रतियोगिता के लिए आये हुए ज्यों में से कोई रचना पुरस्कार योग्य नहीं समझी गई और इस कारण पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति, श्री बीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् ने इस निधि में से १०००) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग को 'बिब पुरस्कार प्रभावती' के नाम से एक पुस्तक-माछा प्रकाशित करने के लिए प्रदान किया। इस बात के लिये सम्मेलन श्रीमान् ओरछा-नरेश तथा पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति का कृतज्ञ है।

उत्पासीन सम्मेलन की साहित्य-समिति ने यह निश्चय किया था कि इस प्रभावती में आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित किये जायें। इस माछा की विशेषता यह है कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चयन करे और स्वयं ही अपनी कविता का इंट्रिक्शन पाठकों के सामने उपस्थित करे। प्रत्येक संग्रह के साथ कवि की हस्तलिपि का नमूना और उसकी प्रतिष्ठति का वैज्ञानिक का स्केच रखा है।

प्रस्तुत संग्रह इस माछा का द्वितीय पुष्प है। आधुनिक काल के कवियों में श्री मुमित्रानन्दन पंत का एक विशेष स्थान है। प्रकृति की शोभा में पले रहने के कारण उनकी कविताओं में उसके प्रति जोर की स्पष्ट छाप मिलती

है। हिन्दी-साहित्य में पलजी की कविताओं का अपना अलग व्यक्तित्व है तथा अपनी कला के भी वे एकमात्र प्रतिनिधि हैं। इस संग्रह के कवि की अपने काव्य के प्रति प्रकट की गई विचारधारा को पढ़ने के बाद पाठकों की कवि को समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

इस संस्करण में कवि ने आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन करके अपनी परिपक्व कवि-प्रतिभा से प्रसूत अनेक अमिगब काव्य प्रसूत संगृहीत किये हैं। परिष्कृत कविताएँ कवि की वर्तमान काव्यधारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं।

इस दृष्टि से इस संस्करण की उपयोगिता और महत्ता पिछले संस्करणों की अपेक्षा अधिक परीयची हो गई है। फलतः पलजी के काव्य-रसिकों के लिए 'आधुनिक कवि' का यह नवीन संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा—
ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकाशक



सेलफ

पर्यालोचन

मैं अपने मल्लिखित साहित्य-प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था किंतु हिन्दी साहित्य सम्मेलन की इच्छा मुझ विषय कक्षी है कि मैं प्रस्तुत संग्रह में अपने बारे में स्वयं लिखूँ। समझ है मैं अपने कव्य की आत्मा को स्पष्ट और सम्यक् रूप से पाठकों के सामने न रख सकूँ पर, जो कुछ भी प्रकाश मैं उस पर डाल सकूँगा मुझे आशा है उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। पत्रकार की भूमिका में कव्य के बहिर्गम पर, अपने विचार प्रकट करने के बाव यह प्रथम अवसर है कि मैं अपने विकास की सीमाओं के भीतर से कव्य के अंतरंग का विवेचन कर रहा हूँ। इस संक्षिप्त पर्यालोचन में जो कुछ भी जुटियाँ रह जायें उनके लिए महसूस मुझ पाठक समा करें।

इन सौ-सबा सौ पुष्ठों के संग्रह में मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नहीं आ सकी हैं। पर जिन पथों का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है उन पर भ्रंशित पद-बिन्दुओं का बोझ बहुत आभास इससे मिल सकता है और, समझ है अपने युग में प्रभावित प्रमुख प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की अस्पष्ट रूप रेखाएँ भी इसमें मिल जायें। अस्तु—

कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय मेरी अग्रभूमि कूर्माचल प्रवेद का है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे बाध है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक वृक्षों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अम्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं जाग सूँघ कर केटता था तो वह वृक्षपट, चुपचाप मेरी आँखों के सामने घुमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि अतिथि य मुद्गर तट पेयत्री

एक के ऊपर एक चढ़ी ये हृष्टि नील भूमि कूर्माक्ष की कामाक्षि परंत
मेधिया जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को बारन किए
और अपनी ऊंचाई से आकाश की अनाक नीलगा को नीर भी ऊपर उठाए
है, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संयोग के आश्चर्य में डबा
कर, कुछ काल के लिए, भुला सकती है और यह धाम परंत प्रात के
बादाबरन ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर बिस्व और जीव के प्रति एक
परीर आश्चर्य की भावना परंत ही की तरह, निरवय रूप से अवस्थित
है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य स्वप्न और कल्पना-
बीबी बनाया वहाँ दूसरी ओर जन-सीत भी बना दिया। यही कारण है
कि जनसमूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ और मेरे आलोचकों का यह कहना
कुछ मझों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने जाने में कदाही है।

मेरा विचार है कि बीबा से शम्भा तक मेरी सभी रचनाओं में प्राक-
ृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है।

‘छोड़ हमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाळ बाळ में कैसे उल्लाखें तुं सोचन ?—

भारिबीबा के विभिन्न प्रकृति के प्रति मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति
निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता
मिली है, कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक विनम्र
में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य भिन्न कर उन्हें ऐन्द्रिय विनम्र
बनाया है, कभी कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का सिंहास पहना
दिया है। यद्यपि ‘उल्लाख’ ‘आतू’ ‘बाळ’ ‘बिस्ववेनु’ ‘एकटाप’
‘भीरुबिहार’ ‘पलाय’ ‘हो मित्र’ ‘अंशा मे गीत’ आदि अनेक रचनाओं
में मेरे रूप-विनम्र के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के
रूप में देखा है।

‘उस फेंसी हरियासी में
कौन बकेली खेल रही मा
बहु अपनी बय बासी में’—

पक्षियों मेरी इस बारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्पाटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणतः, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है पर उसका उग्र रूप भी मैंने ‘परिवर्तन’ में चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है इसीसे मेरा मन वर्तमान समाज की कुस्मृतियों से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रभावित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम बचता है यदि मैं संपर्कप्रिय अथवा निराशावादी होता तो ‘Nature red in tooth and claw’ वाला कठोर रूप जो जीव विज्ञान का सत्य है मुझे अपनी ओर अधिक खींचता। किन्तु ‘बह्नु बाइ, उसका सारा की भीषण मूपर’ इन ‘कोमल मनुज कलेवर’ को अधिपत्य में अधिक से अधिक ‘मनुजोचित साधन’ मिल सकेंगे और वह अपने लिए ऐसा ‘मानवता का प्रसाद’ निर्माण कर सकेगा जिसमें ‘मनुष्य जीवन की क्षण मूर्ति’ अधिक सुरक्षित रह सकेगी—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है—

‘मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर !

और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे बरग पर ?

बीया और पस्नब विदोपतः, मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसका व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलना था। वह मेरी सौम्य-निष्ठा की प्रतिफलनी थी जिसके बिना उस समय मुझे कोई बन्धु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से प्रकृति प्रेम के साथ ही मेरे

प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफी प्रमाण है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन जो एक निष्क्रियता की हव तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखाता है वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

‘एक सी गर्म नहर उपवन — एक सी गर्म विजल वन !

यही तो है असार संसार — सुजन सिजन संहार ! —

खासि माननाएँ मनुष्य को अपने केन्द्र से व्युत्पन्न करने के बाद किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोजन के लिए अग्रसर नहीं करती बल्कि उसे जीवन की छत्र भूमिका का उपवेश घर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अनाचारमकता (निगेटिविज्म) के मूक हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी गहरे बुसे हुए हैं, जिसके कारण जातीय दृष्टि से हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण के संस्कारों (संस्क प्रिन्सिपल्स इन्स्टिक्ट्स) को सो बैठे हैं, और अपने प्रति किए गए अत्याचारों को बोधी बार्सनिकता का रूप देकर, चुपचाप सहन करना सीख गए हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की सगठित क्षमता से हट कर आकाश कुमुमकत् रैनी क्षमता पर बैठक गया है, जिसके फल-स्वरूप हम बेस पर विपत्ति के युगों में सीढ़ी वर सीढ़ी नीचे गिरते गए हैं।

पस्कन और गुजन काल के बीच में मेरा किछोर भावना का चीन्वर स्वप्न टूट गया। पस्कन की 'परिवर्तन' कविता बूझती दृष्टि से मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी जोरक है। इसीलिए वह पस्कन में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे चमत्कार में संघन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की शिक्षा बरल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक वैराग्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीव जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। अन्ध के गबुर रूप में मनुष्य दिखाई देने लगी बसंत के कुमुमिष्ठ आचरण के भीतर पतझर का लम्पिपंजर।

‘सोछता हूँ पर जन्म सोचन
 मुँहती उधर मृत्यु काज क्षण !
 ‘वही मधुच्छन्द की मुँहति जाक
 झुकी भी आ जीवन के भार,
 अकिञ्चनता में निज तत्काल
 सिहर उठती—जीवन है भार !

मेरा जीव दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन
 स्वीकृत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता
 के बुदबुदों के व्याकुल संसार में परिवर्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान
 पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आकांक्षाएँ और मुक्त-स्वप्न अपने
 भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने
 के लिए, कहूँ की तरह अज्ञात प्रयास की वाकृशता में ऊबड़बुद करने
 लगे।

चिन्तु दर्शन का अध्ययन, विश्लेषण की रैनी बारस जहाँ जीवन के
 नाम कम पुन के छिन्नके उतार कर मन को धूँय की परिधि में मटनाता
 है वहाँ बहु छिन्नके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसी सूक्ष्म संस्लेपणा
 एक मत्स्य के आलोच से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिश्रयता
 पित्त को अलौकिक ज्ञानमय से मुख और विभिन्न कर देती है। भारतीय
 दर्शन ने मेरे मन को अस्तिर कर दिया।

‘जग के उर्वर आँखों में बरसो ज्योतिषय जीवन
 बरसो सधु लघु लुण तब पर है चिर अम्य चिर मृतन !’—

इसी सविशेष की कल्पना ने सहारे, जिसने ‘ज्योत्स्ना’ का और गुंजन की
 ‘अप्परा’ का जन्म दिया है, मैं पस्तन से गुंजन में अपने को पुनरुत्पत्ति से
 रिक्त की भूमि पर पदार्पण करने हुए पाता हूँ। गुंजन में मेरी बहिर्मुखी
 प्रकृति मुग हुग में ममत्व स्थापित कर अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती
 है। साथ ही गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी कल्पना अधिक मूल्य एवं भावा-

रमक हो गई है। गुञ्जन के भाषा संगीत में एक सुखरता मधुरता और स्मरानता आ गई है जो पल्लव में नहीं मिलती। गुञ्जन के संगीत में एकता है पल्लव के स्वरों में बहुसता। पल्लव की भाषा दुःख जनक के रूप रंग की कल्पना से मांसम और पस्सवित है गुञ्जन की भाषा धाम और कल्पना के सुखम चीन्दर्य से गुञ्जित। ज्योत्स्ना का बातावरण भी सुखम की कल्पना से ओतप्रोत है उसका सांस्कृतिक समन्वय सन्निधित्व (ट्रैन्सेन्डेंटलिस्म) के आलोक (वर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से मुन्दरम् और सिबम् से भी बड़े लज्जम सत्यम् का बोध नहीं होता है। साच ही उनमें वह अनुमृति की तीव्रता नहीं मिलती जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख दुःख के सत्य को जबका अपने मानसिक संघर्ष को मने अपनी रचनाओं में बाणी नहीं थी है क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। गुञ्जन में 'तप दे मधुर मधुर भा' में सीक न पाया अब तक सुख से दुःख को अपनाना बाकि अनेक रचनाएँ मेरी इस कवि की छोटक हैं। मुझे लगता है कि ध्रुव में सत्य स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रस है, फल में जीवजोषयोमी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है उसी प्रकार मुन्दरम् की परिणति सिबम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोमी (ध्रुव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोमिता से सबब रखने वाले सत्य में अवश्य होने चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकता। इसी तरह अनुमृति की तीव्रता भी सापेक्ष है और मेरी रचनाओं में उसका संबंध मेरे स्वभाव से है। सत्य के बोलों रूप है—धरावी धराव पीता है यह सत्य है उसे धराव नहीं पीता चाहिए, यह भी सत्य है। एक समका वास्तविक (फैन्थुमस) रूप है दूसरा परिणाम से संबन्ध रखने वाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है वह मेरा संस्कार है आत्मविकास (सन्निधित्व) की ओर जाना। अनुमृति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है

मंदर का बोध अंतर्मुखी स्वभाव (इंट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अंतर्मुख को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुमति को बाध देता है। मेरे पस्त्रक काल की रचनाओं में तुलनात्मक दृष्टि से मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है और भाव की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक सम्बन्ध की इच्छा।

यदि मेरा हृदय अपने युग में बरत जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास न तो बैठता तो मेरी भाव की रचनाओं में भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती। जब वस्तुवस्तु के जीवन से हृदय को भोजन मधवा भावना को उद्दीप्त नहीं मिलती तब हृदय का मूलापन बुद्धि के पास सहायता मांगने के लिए पुकार भेजता है।

भाते कैसे सुने पर जीवन में ये सुने पर

‘जो देती उर की बीबा संकार मधुर जीवन की’—

भादि उद्भार गुंजन में आए हैं। ऐसी अवस्था में मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विरोध की भावना प्रकट कर सकता और मैं संदेहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझ रोका और मैंने इन बाध निश्चेष्टता और मूलेपन के कारणों का बुद्धि में मुल्माने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी भाव की रचनाएँ भावनात्मक न रह कर बौद्धिक बनती गईं या मेरी भावना का मूल प्रकाशवान् हो गया? शोचनी में मेरी भावना और बुद्धि के आवेग का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तम रूप का बिम्ब मेरे हृदय को लार्पित करना रहा जो कि एक तिजोर प्रवृत्ति है मेरी रचनाओं में एग्रिय चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुशास की भावना क्रमशः सौन्दर्यप्रधान न भावप्रधान और भाव प्रधान में आनप्रधान होती जाती है। बीडिरता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है वह हृदय की शुद्धता से नहीं जाती। परिवर्तन में भी मैंने यही बात कही है—

‘मही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप हृदय में बसता प्रलय अपार,
सोचनों में लावण्य अनूप लोकसभा में शिव अधिकार।

गुजन से पहले—जब कि मैं परिस्थितियों के बस अपनी प्रवृत्ति को बगल मुँनी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था—मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता ‘शक्ति’ और ‘परिवर्तन’ में प्रकट हुई। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, तब मैं प्राकृतिक दर्शन (नैचुरेलिस्टिक फिलोसफ़ी) से अधिक प्रभावित था और मानवजाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक संघर्ष का।

‘मानव जीवन प्रकृति सचकन में विरोध है विविध
विभिन्न प्रकृति को कर जग में की विश्व सम्मता स्थापित’—

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार में लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं।

अधिर विश्व में अधिक—विश्रावधि कर्म बचन मन
सुम्ही चिरतन बड़े विवर्तन हीन विवर्तन। —

जीवन की इस प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार हमें प्रकृति के नियमों की परिपूर्णता एवं सर्वसत्त्वमता के सम्मुख मस्तक नवाने ही में छाँटि मिल सकती है।

गुजन और ज्योत्सना में मेरी सौन्दर्यकल्पना कमरा आत्मकन्यास और विश्वमंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

‘प्राप्त नहीं मानव जग की यह भर्मात्मक सत्तास’

या

‘कहाँ मनुष्य की अवसर देने मनुष्य प्रकृति मुक्त’

अथवा

‘प्रकृति धाम यह तूण तूण नय कय जहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ मकेजा मानव ही रे चिर विपण्य जीवन-मृत ! —

बारि बाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आकर्षण मानवजगत की
बार बरिष प्रकट होता है। ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना
मेरे ऐश्वर्य हृदय को प्रभावित करती रही है मैं तब तक भावना ही से
जगत का परिचय प्राप्त करता रहा उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को
समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को
को बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने ‘युगांत’ में लिखा है —

‘यह एक बसीम अलब विषय व्यापकता
को गई तुम्हारी चिर जीवन सार्वक्यता !

भावना की समझना को को बैठने के कारण मैं लंब-लंब रूप में संसार को
नय जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि
यहाँ से मेरी काव्य साधना का दूसरा युग आरंभ होता है। जीवन का
प्रति एक संतुष्टिभाव मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचायित करने लगा
और विगाधन के क्षणों में प्रकाश स्तम्भ का काम देने लगा। जैसा कि
मैंने ‘युगांत’ में भी लिखा है,—

जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर
पार करो विश्वास चरण पर।

यह मैं मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से संश्लेषण और विश्लेषण स
हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं।

पश्चात्त ए युग तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं और
के अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौन्दर्य का पुष्ट
करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा का अधिक गमिष्ठ (ऐम्प्लिफिकेशन)
हो जाने के कारण मेरी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गई है।

‘नयन नीलिमा के लघु भय में किस सब सुपमा का संसार
दिरस इन्द्रभगुनी बावक सा बबक रहा है अपार ?’

की अलंकृत भाषा जिस प्रकार ‘स्वप्न’ का रूप चित्र सामने रखती है उसी प्रकार गीत-गद्य ‘युगबाणी’ की ‘युग उपकरण’ भव संस्कृति भाषा रचनाएँ मनोरम विचार चित्र उपस्थित करती हैं। पुष्पग्रन्थ ‘वनवास’ ‘हृदय’ ‘जीवनस्पर्श’ आदि रचनाओं में भी विषयानुकूल अलंकारिता का समावेश नहीं है। यदि यह मेरा सुखन आवेग भाव नहीं है तो युगबाणी और छाया में मेरी कल्पना ऊर्ध्वनाम की तरह ‘सूक्ष्म जल अंतरजीवन का’ मधुर विद्यालयाभ्युदय, देश और काल के छोरों को मिलाने में सफल रही है। इस हास और विषटन के युग के स्वल्पप्राय लेखककी सुजन लोक कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मामों की खोज ही में व्यय हो जाती है, उसका कसाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है अतएव उससे अधिक कला नैपुण्य की आशा भी नहीं रखनी चाहिए।

युगबाणी का ‘रूप पुनर्ग’ समावेश के भावी रूप का पुनर्ग है। अभी जो वास्तव में अल्प है उसके कल्पनात्मक रूप चित्र को स्वभावतः अलंकृत होना चाहिए। युगबाणी में कहा भी है—

‘जग गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम’
‘सुंदर चित्र छत्र कला के कल्पित माप-मान’
जग गए स्वरूप जग जीवन से हो एक प्राण।

‘जगत के रूप नाम’ से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक संबंधों से निर्मित अधिव्य के मानव-संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुबद्धिनी मानते हैं तब कला का पल पीछे हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुयायी होता है। युगबाणी में यह बात कई तरह व्यक्त की गई है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सीखने कल्पना स्वयं ही अपना कामगार है। ‘रूप रूप बन जायें भाव स्वर, चित्र पीछे संसार मनोहर’ द्वारा अधिव्य के अल्प सीखने का रूप के पास में बढ़ने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीवन आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य भी खो बैठते हैं उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं। क्योंकि उनका रूप चित्र अभी सघ होता है और उनके रस का स्वाद महीन। 'मधुरता मृदुता सी तुम प्राण न जिसका स्वाद स्पष्ट कुछ मात' उनके लिए भी जरूरी होता है। इसी से उनकी समीप्यता से अधिक उनका भावतत्त्व काव्यगौरव रहता है।

‘तुम बहून कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या बर्तार’

मैं भी मेरा यही अतिश्रुति है कि संश्रुतियुग की वाणी के विचार ही उसके बर्तार हैं। जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गई है जिनकी एतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है वे प्यराए हुए मृत विचार भाषा को बेमिष्ठ बनाते हैं। महीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-निपासा का मिटाते हैं उड़ने वाले प्राणियों की तरह स्वयं हृदय में घर कर सेते हैं। जाने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणतत्त्व से रसमयी होगी नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सांस्कार और जीवन के प्रति नवीन अनुभव की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सक्रिय हो जाएंगे।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश महीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य में रहकर केवल मञ्जूरा मंजीत बन गया था। डिबेरी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में पार्श्वार्थ साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था और उसका भाव घरीर डिबेरी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किन्तु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका

वा। उसमें व्यावसायिक प्रति और विकासवाद के बाव का भावना बर्नव तो वा पर महापुत्र के बाद की 'अभवत्' की चारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हास-मधु आशाज्जाला' 'लास मधु पानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूड, रहस्यमयक भावप्रधान (सब बेमिष्ठ) और वैयक्तिक हो गया दूसरी ओर केवल टंकनीक और आभरण मात्र रह गया। इसके बावों में तभी सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी कविता छायावाद के रूप में हासपुत्र के वैयक्तिक अनुभवों ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं संबंधी स्वप्नों निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन संबंधों की कठिनाइयों से झुंझ होकर, पलायन के रूप में प्राकृतिक वर्णन के सिद्धांतों के आधार पर, भीतर बाहर में कुछ कुछ में आशा निराशा और संयोग वियोग के द्वंद्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की रूप के रूप में औरान्वित होने लगी।

महापुत्र के बाव की अंग्रेजी कविता भी अतिवैयक्तिकता बीडिकता कुसृष्टा संवर्ष अवसाव निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उसीसवी सदी के कवियों के बाव और सीपर्व के बातावरण से कट कर अलग हो गई है। किंतु उसकी कठना और शोक की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत अस्तित्व के संबंध में न रख कर बर्ग एवं सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से संबंध रखती हैं। वह वैयक्तिक स्वर्ण की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उसीसवी सदी का उत्तरार्ध ईंग्लैंड में मध्यवर्गीय संस्कृति का चरमोन्नत रूप रहा है, महापुत्र के बाद उसमें बिघटन के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और सुदोतरकामीन अंग्रेजी कविता दोनों विम-मिश्र रूप से इस संकलियुग के स्थायिक विरोध की प्रतिध्वनियाँ हैं।

पश्चात् काल में मैं उसीसवी सदी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यतः पेची बर्ट्सवर्ष कीट्स और डेविडन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ

कोकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। रवि बापू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की मशीन युग की सौन्दर्य कल्पना ही में परिणामित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का स्मोगन भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिमा के सहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि किन्तु एक uncorroborated-confirmation प्रोसेस है, तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यथतः उपयोग भी किया है और उसे अपने विकास का भव बनाने की चेष्टा की है।

अगर मैं एक अलंङ्ग भावना की व्यापकता को सो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामंत युग की सांस्कृतिक भावना थी जिसे मैंने सोया था और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नहीं बसिक बाहर के जगत में थे। इस बात को ग्राम्या में मैं निश्चयपूर्वक लिख सका हूँ—

‘यत् संस्कृतियों का आवर्तों का वा नियत पराभव
बृह बिम्ब सामन्तकाल का वा केवल जड़ खोंडहर !

‘युगांत’ के ‘बापू’ (‘बापू के प्रति’) सामंत युग के सूक्ष्म के प्रतीक हैं ‘ग्राम्या’ के ‘महारमा’ (‘महारमा जी के प्रति’ में) ऐतिहासिक स्वरूप के सम्मुख ‘विभिन्न नर बरेष्प’ हो गए हैं जो वर्तमान युग की पराजय है।

‘हे भारत के हृदय तुम्हारे साथ आज निःसंघ
बुर्भ हो गया विगत साम्राज्यिक हृदय जगत का जर्जर !

मायी सांस्कृतिक क्रांति की ओर संकेत करता है।

हम मुबार और जागरण काल में पैदा हुए, किन्तु युग प्रगति से बाध्य होकर, हमें मंत्रान्ति युग की विचारधारा का बाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन में हम अपने ही देश में कई प्रकार के मुबार और जागरण के प्रयत्नों को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ भ्यामी दयानन्द जी मुबारबादी से प्रिन्हीने

मध्ययुग की उत्कीर्ण कर्हि रीतियों के बंधनों से इन जातियों और संप्रदायों में बिभक्त हिन्दू धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानन्द का युग भारतीय दर्शन के आगरण का युग रहा है। उन्होंने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए जातिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रबीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय पर और रखा रहा है।

‘युग युग की संस्कृतियों का चुन चुमने सार सनाकन
नव संस्कृति का धिताम्बाध करना चाहू मय धूमकर’

कबीर की प्रतिभा के लिए भी कानू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे में लिखते भी हैं,—“मै समझ गया कि मुझे इस बिभिन्नता में व्याप्त एकता के सत्य का खेस देना है। डा० टैयोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव धात्न (एथोपोलाजी) विश्ववाद और अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न निम्न निम्न देशों और जातियों की संस्कृतियों के मौलिक सारवाय से मानव जाति के लिए विश्व संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश काक जमित बारपायों में प्रकारांतर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्यों में परस्पर का संपर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव-जाति के आंतरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्मा भी भी इसी प्रकार, बिचलित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जापरण कर, भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच संसार में सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार के एक्देशीय एकाधौय और अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी इस युग में अभी लफल हो सकते हैं जब उनको परिचालित करने वाले सिद्धांतों के मूल विकासधीन ऐतिहासिक सत्य में हों।

विश्व सम्यता का होना वा नस्तित्व नव रूपांतर,
रामराम्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !

मानवता युग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूठ परिवर्तन
छला चाहता है। वह सामंत युग के सगुण (सांस्कृतिक मन) से मानव
चेतना को मुक्त कर, मनुष्य के मौखिक संस्कारों का यंत्रयुग की विकसित
परिस्थितियों और सुविधाओं के अनुरूप नवीन रूप से मूल्यांकन करना
चाहता है। वह मानव संस्कृति को एक सामूहिक विकास प्रवाह मानता है।
'वस्तर युग की अर्ध सम्यता मरणासन्न समापन' से इसी प्रकार के युग
परिवर्तन की सूचना मिलती है। दूसरे सभ्यों में ज्ञान वाक्ता युग मनुष्य
समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सर्वत्र
विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान भी
मानव जाति की नवीन जीवन कल्पना को पृथ्वी पर व्यवस्थित करने के
व्यय में संकल्प है। जिस संक्रांतिकाल से मानव सम्यता गुजर रही है
उसके परिणाम के हेतु आशावादी बने रहने के लिए विज्ञान ही हमारे पास
बसोप द्रष्टि और साधन है। इस विश्वव्यापी युद्ध के रूप में जैसे विज्ञान
भिन्न-भिन्न जातियों, बर्गों और स्वाधों में विभक्त 'आदिम मानव' ('आदिम
मानव करता जब भी जन में निवास') का संहार कर रहा है। वह मविष्य
में नवीन मानव के लिए लोकोपयोगी समाज का भी निर्माण कर सकेगा।
ग्राम्या में १९४० खन् को संबोधन करते हुए मैंने लिखा है—

‘आओ हे सूर्यर्ष बर्ष सामो विनाश के साज नव सुजन
विश्व मताम्बी का महान् विमान ज्ञान के उत्तर यौवन !

सम्यता के इतिहास में और भी कई युग बहसे हैं और उन्हीं के अनुरूप
मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा अपन अंतर और बहिर्गत संबंध में
परिवर्तित हुई है।

‘पु युग में ये गण देवों के पूजित पशुपति
पी चरचरो से कृत्रिम इति युग की उन्नति।

श्री राम रूढ़ की छिन्न में कर बनहित परिणति
जीवित कर गए बहुधा को वे सीता-पति।

श्री राम इस दृष्टि से अपने देश में कृपि जाति के प्रवर्तक रहे वा सकते हैं किन्तुने कृपि जीवन की मान सर्वसाधु निर्धारित की। स्थिर एवं सुख्यवस्थित कृपि जीवन की व्यवस्था पशु-जीवियों की कष्टसाध्य अवस्थित जीवनधर्मों से भेद और सोकापयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सहाचार कृपि संस्कृति ही की रेश है। कृप्य का युग कृपि जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष जैसे विद्यालय उर्वर और उन्नत देश की सामन्तकालीन सम्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी—उसका समस्त वैभव बहुमुख्य उपादान उसकी अपार पीरक परिना आदि सिद्धि दृष्टि चक्षित कर देने वाले रूप राम—उस युग की विषय भावना बुद्धि कल्पना प्रेम ज्ञान जलिन एतत् ईश्वरत्व—उसके समस्त धार्मिक मानसिक आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़ कर, जैसे उस युग की चरमोन्नति का प्रतीक स्वरूप श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गई है। इससे परिपुष्ट रूप बचवा प्रतीक सामन्त युग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था। और कृपि संपन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश शायद उसे दे भी नहीं सकता था।

मर्मांग पुष्पोत्तम के स्वल्प में कृपि-जीवन के आधार-विचार, ऐतिमीति संबंधी दार्शनिक जादी के छारों से बने हुए भारतीय संस्कृति के बहुमुख्य पद में विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे एतत् अङ्गित राजसी वैभवमूर्ति से अर्धकृत कर दिया। कृष्ण युग की गारी भी हमारी विभव युग की गारी है। वह 'भक्त' भावा कर्मना जो मेरे मन राम' बाकी एकमिष्ट पत्नी नहीं—नास प्रयत्न करने पर भी उसका मन भीष्मपति पर सुख हो जाता है वह निष्कल है, सङ्कलित है। सामन्त युग की वैदिकता के संपन्न बहाते के भीतर, श्रीकृष्ण ने विभव युग के तर गारियों के सहाचार में भी जाति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ

वन्द्युम के युग में फिर से गोप संस्कृति का निवास पहनती हुई दिखाई देती है।

भारतीय संस्कृति का जो स्वल्प हमें मध्ययुग में देखने को मिलता है वह भी तुलसी रामायण में सुरक्षित है। तुलसी ने 'वृषि-भग्न मुग अनुकप दिया निमित्त। देव की पराधीनता और ह्रास के युग में संस्कृति के सख्तपन के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य संस्कृतियों से ग्रहण कर सकने की उसकी प्राणवृत्ति मन्द पड़ गई, और भारतीय संस्कृति का तत्विगीय जीवन श्रव जातिओं, संप्रदायों, सभों भठों चङ्कि रीति नीतियों और परंपरायन विचारों के रूप में जम कर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण जनसाधारण में बहू की अनित्यता जीवन का निम्नपावन संसार की जमागतता मायावाद प्रारम्भवान्, वैरमय भावना आदि ह्रासयुग के जमावतमक विचारों और भावों का प्रसार बढ़ने लगा। जिस प्रकार वृषि युग ने पशुबीबी युग के मनुष्य की अंतर्बाह्य केना में प्रकारांतर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार वन का आगमन समस्त युग की परिस्थितियों में आमूक परिवर्तन लाने की सूचना देता है। वास्तव युग में भी समय समय पर, छोटी बड़ी विरिस्त युग की वन सम्पु-
नियों का समन्वय हुआ है तथा सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक और धार्मिक क्रियाएँ हुई हैं किन्तु उन सब के नैतिक मानों और भावों को सामान्य युग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। अविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से संबंध रखने वाले धार्मिक सिद्धांतों और मानों को वन युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ नियंत्रित करेंगी।

वन युग के दसन को हम ऐतिहासिक भीतिकमान् कहते हैं जो सभी सारी सारी के संकीर्ण भीतिकमान् से पुनर्ज है। नवीन भीतिकमान् दर्शन और विज्ञान का मानव सम्भता के अंतर्बाह्य विचार का ऐतिहासिक (समन्वय है।

‘वर्तमान युग का जंग जंग विज्ञानों का संघर्ष
मह वर्तमान-विज्ञान सार्य करता पश्य निरुपम।

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के वर्धन के साथ ही वह उस सामूहिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य नवीन संघ (स्टेट) का भी विचारक है।

‘विकसित हो उसके कम कम जीवनोपाय के सामग्री
युव बढ़के सासन सबसे कर गत सम्पत्ता समापन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-मिति पर नूतन
नव विचार, नव रीति नीति नव नियम साथ नव दर्शन।’

इतिहास विज्ञान के अनुसार जैसे जैसे जीवनोपाय के साधन स्वरूप हथियारों और यंत्रों का विकास हुआ है मनुष्य जाति के रहन-सहन और सामाजिक विज्ञान में भी सुधार हुआ है। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और सभी के प्रतिरूप रीति नीतियों विचारों एवं सम्पत्ता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यंत्रों पर जिस वर्ग विशेष का अधिकार रहा है, उसके द्वारा जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने कम समाज पर अपनी बुद्धिमानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने सचर को जो ‘विश्व ज्ञान विज्ञान कला यंत्रों का अद्भुत कीचड़’ दिया है उसके अनुरूप सम्पत्ता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता कम गूढ़ हो गई है। आज कम कि सचर में इतिहास का सबसे बड़ा मुक हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप आसिद्ध है—समय बीत भी हो पाय इस प्रथा के विरोधों का विशेषण करना पिच्छेपथ के समान है। जहाँ मनुष्य स्वभाव भी सीढ़ाएँ, एक ओर, बर्ष संवर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में मानव जाति का रक्तपात कर उग्र प्रयोग कर रही है दूसरी ओर मनुष्य की विकासप्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त वर्धन साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए,

सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष पूर्णता तक पहुँच सका जबका उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन निश्चित गुणों में प्रतिफलित हुई सामयिक काल के वर्णन में व्यक्ति के स्वरूप की उही तरह निर्धारित किया है। यंत्र युग के सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयारमक (पारिधिक्) धारणा नहीं बनाई जा सकती। मनुष्य एक विवेकशील पशु है कहना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के संबंध में वस्तु-व्यपत् की परिस्थितियों से प्रभावित होती है वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक विद्या में विकसित होती रहती हैं। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का विकास की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता है, जबका उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रक्रियाएँ बंध जाती हैं, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृति से संबद्ध है।

हम जाने वाले युग के लिए 'स्वूच' की (वर्णयुग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतीक को) इसलिये सूक्ष्म (भावी सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) मानते हैं कि हमारे विगत सांस्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठभूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्त्वों में बनी है और हम जिस स्वूच को कम का 'धर्म सुन्दर सत्य' मानते हैं वह स्वूच प्रतीक है सामूहिक विकास का।

स्वूच युग का धर्म सुन्दर सत्य स्वूच ही सूक्ष्म आज जन-मान ! सामयिक युग में जिस प्रकार सामाजिक रहस्य-सहस्र और सिंघाचार का सत्य राजा से प्रजा की ओर प्रकाशित हुआ है उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श उस युग के सगुण की विद्या में विकसित व्यक्ति से जन-साधारण की ओर। आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की विद्या को लेनी चाहिए व कि सामयिक युग के लिए उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की विद्या को। 'तब तब व्यक्ति गुण जनसमूह युग अब विकसित' —

सामंत युग का नैतिक दृष्टिकोण उस युग की परिस्थितियों के कारण तबोक्त उच्च वर्ग के गुण (ब्राह्मिणी) से प्रभावित था।

माने वाला युग सामंत युग की नैतिकता के पास से मनुष्य को बहुत कुछ अर्थों में मुक्त कर सकेगा। और उसका 'पशु' (भौमिक संस्कारों से बंधी सामंतवादी नैतिक मान) विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से बहुत कुछ अर्थों में 'देव' (सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।

‘नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित
जीवन थापन कर न सके जन इच्छित।

देव और पशु भावों में जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित अवसित।

भावी सामाजिक सन्धार मनुष्य के भौमिक संस्कारों के लिए अधिक विकसित सामाजिक संबंध स्थापित कर सकेगा।

‘अति मानवीय का निश्चय विकसित व्यक्तिचार
मनुष्यों में जिसने मरा देव पशु का प्रमाद’

और

‘मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श मुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण असुंदर को सुंदर’—

आदि विचार मनुष्य के ईहित संस्कारों के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं।

मनुष्य धुषाराम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और अराजकता के अर्थ में आध्यात्मिक मध्य की ओर बढ़ता हुआ है। भौमिक दशा का यह दावा ठीक हो जाना पड़ता है कि एक एही सामाजिक व्यवस्था में विगम वि अधिकाधिक मनुष्यों को धुषाराम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त सकते हैं और न

वर्तमान युग की संरक्षणहीनता से मुक्त हो सकते हैं। उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं व्याप्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी। एक ओर समाजवादी विधान उत्पादन यंत्रों की सामाजिक उपयोगिता बढ़ाकर, मनुष्य को वर्तमान मार्मिक संघर्ष से मुक्त कर सकेगा दूसरी ओर वह उसे सामंतवादी सांस्कृतिक मार्गों की सकीर्णता से मुक्ति दै सकेगा। जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नहीं रह गई है और जिनकी बारबाएँ बामूक विचलित एवं परिवर्तित हो गई है। यदि बाकी समाज मनुष्य की रोटी (जल आवश्यकताओं का प्रतीक) की चिन्ता से मुक्त कर सका तो उसके लिए कबल सांस्कृतिक संघर्ष का प्रश्न ही सेप रह जायगा। प्रत्येक धर्म और संस्कृति ने अपने देसवासुर से संबंध रखने वाले सामान्य सत्य को निरपेक्ष (संपूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग नरक संबंधी) सुख और भय के संस्कारों से काम उठाकर, उसकी चेतना में मार्मिक और सामाजिक विचार स्थापित किए हैं जो कि सामंत युग की परिस्थितियों को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित ही थे। इस प्रकार प्रत्येक युग पुनः एक कृष्ण बुद्धि आदि, जो कि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं जनता द्वारा सांस्कृतिक पुण्य (निरपेक्ष) की तरह माने और पूजे गए हैं। सामंतकामीन उदात्तनायक के रूप में हमारे साहित्य के 'सर्व सिद्ध सुखरम्' के शास्त्र भाग भी केवल उस युग के सगुण से संबंध रखने वाली सापेक्ष बारबाएँ मात्र हैं। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ मनुष्य के मौलिक संस्कार, सुखा-काम आदि निरपेक्षता कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सत्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के अनुरूप उनका जो व्यावहारिक सामाजिक और नैतिक मूल्य निविष्ट हो जाता है। इस का प्रभाव मनुष्य के सत्य चिन्त सुखर की भावनाओं में भी पड़ता है। मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशाल सामं प्रत्य स्थापित किया जा सकेगा उसीके अनुरूप जन-समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था ने सामाजिक सवाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो

जाएगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जायगा व्यक्ति के छुद्र देह ज्ञान की (अहमरिमका) भावना विकसित हो जाएगी उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वतः कार्य करने लगेगा और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जाएगा।

सामंत युग के स्त्री-पुरुष संबंधी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकृषित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर दृष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अंगल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बालबिंबा अपनी छाती से चिपकाए हुई है और दूसरे छोर को उस युग की देन देखा। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती रही है। स्त्री-स्वातन्त्र्य संबंधी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन अधिकार संबंधी आंदोलन बुद्धिवादी संस्थाएं एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामंत युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।

‘सदाचार की सीमा उसने तन से है निर्धारित
पूठयोनि वह मूल्य पर धर्म केवल उसका अंकित।
वह समाज की गई इकाई—दुन्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान मान पर नर के है अव्यंजित।
योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अव्यंजित।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामंत युग की दृष्टिकोण और सांस्कृतिक भावनाओं ही से युद्ध कर रहा है पृथ्वी पर अभी यंत्रण प्रगति नहीं हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की दुःख नाम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं मूल्य सिद्ध सुन्दरम् की धारणाओं में प्रचारांतर उपस्थित कर लेगा।

ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भारतीय अध्ययन दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा क्योंकि मैंने दोनों को जोकोतर सम्बन्धकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्तर भूमिजीवियों के सन्तुष्टन, वर्ग संघर्ष, आदि से संबंध रखने वाले बाह्य दृश्य को जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक शक्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी रचना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वसमृद्धि की जिज्ञासी विद्यार्थी भावना मुझे बेहोश में मिठी छूटती ही ऐतिहासिक वर्णन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ धर्म की ओर में, सापेक्ष के उस पार, अर्थात् मनस मोहरम् की ओर जैसे गये हैं वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तत्त तक डूबकी लगाकर, उसके आसन्न में जनसमाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैज्ञानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी नहीं हो सका है।

अथवा जैसे निम्न मन के मनोवैज्ञानिक 'इह' के विश्लेषण में सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते हैं। वहाँ निश्चेतन (अनकाउन्स) पर, विवेक का निर्वन्धन न होने के कारण वे जाति पैदा होने का भ्रम बतलाते हैं। भारतीय उत्पत्तिवाद साधक अपने सूक्ष्म गाड़ी मनोविज्ञान (मन) के कारण सापेक्ष के उस पार उत्कृष्टता-पूर्वक पहुँच कर 'सर्वतत्त्व सर्वस्य सर्वस्यस्यास्य बाह्यतः' धर्म की प्रतिष्ठा कर सके हैं।

मैं अध्ययन और नैतिक दोनों वर्णनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय वर्णन की सामयिकतापूर्ण परिस्थितियों के कारण जो एकाग्र परिमति व्यक्ति की जीवन-मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत एवं एहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार भाव हैं) और मार्क्स के वर्णन की पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण जो सर्वसमृद्ध और रक्षणशक्ति में परिणत हुई है—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

अध्ययन दर्शन से हूँ इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष

जगत ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मग और बुद्धि से मसीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत का—जिसका सम्बन्ध मानव जाति की संस्कृतियों—आचार विचार, रीति नीति और सामाजिक सम्बन्धों से है—विकास किस प्रकार हुआ इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्यं शिवं सुवरम्' का बोध सापेक्ष है कल्प इस सूक्ष्म से परे है— यह अध्यात्म दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन ध्वनि गतिशील (डाइनेमिक) है सामंतकालीन मूल्य से जबका विमल सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव समाजका संघाक्तन नबिप्य मे नही हो सकता उसे नवीन जीवन मानों की आवश्यकता है जिसके ऐतिहासिक कारण हैं आदि—यह आधुनिक भीतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो वस्तु दर्शन (ऑब्जेक्टिव) टिप्पणियों) के सिद्धांतों पर इतना जोर दे रहा हूँ इसका यही कारण है कि परिवर्तन काल में भाव दर्शन (सबजेक्टिव टिप्पणियों) की—जो कि बम्बुदय और आमरण युग की थी है—उपयोगिता प्रायः नष्ट होती है। सब तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अर्थकार में फैले इस मध्यकालीन संस्कृति के ऊर्ध्वमूल अस्तित्व का जड़ और छाया सहित उखाड़ कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार संधान करना पड़ेगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मूल अपने देश की संस्कृति के मूल उस ब्रह्म में नहीं मिलते, जिसका चरम विचार अज्ञानवाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाशवाणी गताश्रितों के अर्थविरोधमा कट्टियों प्रयाशों और मतमतान्तरों की सायाप्रगायाओं में पुत्रीभूत और आच्छन्न होकर एक हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जल देकर, समकी बुद्धि राके हुए है। एक जातीय रक्त को सोपन करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना और नवीन वास्तविकता के आचारों और विधानों

को ग्रहण किए बिना हम में वह मानवीय एकता जातीय संमेलन सक्षम चैतन्य सामूहिक उत्तरदायित्व परोक्ष और ऐहिक विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की क्षमता और क्षमता नहीं आ सकती, जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महामानता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग के सूजन एवं निर्माण काळ में संस्कृति के मूल सर्वत्र परिस्थितियों की वास्तविकता ही में होते हैं वह अभ्युदय वास्तविकता समय के साथ साथ विकास एवं उत्कर्ष काळ में ऊर्ध्वमूल (आक-रूप) सांस्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जब कि पिछले युगों की वास्तविकता सामूहिक परिवर्तित और विकसित होने का रही है, हमारी संस्कृति को मशीन जगमगाह करने के प्रयास में फिर से अभ्युदय होना ही पड़ेगा। हम शताब्दियों से एक ही मूल सत्य को गिरा नवीन रूप (इंटर प्रेंटेंस) देते आए हैं जब उस सामंत गुण की नवीन वस्तु-परिस्थितियों अनुसंधान क्रांति होने की मौखिक क्षमता समाप्त हो गई है, क्योंकि विगत युगों की वास्तविकता आज तक भाषाओं में बंद बंद रही थी अब वह प्रकार में बंद रही है।

मनुष्य का विकास समाज की विद्या को होता है समाज का इतिहास की विद्या को—इस ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सिद्धान्त को हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

‘अंतर्मुख बहिर् पक्षा वा युग युग से निष्क्रिय निष्पाप
जब मैं उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।

भौतिक दर्शन ‘वास्तविक सर्वमूर्तेषु’ के सत्य को सामाजिक वास्तविकता में परिवर्तित करने योग्य समाजवादी विधान का अन्तर्भाव है। भारतीय दर्शन के अंतर्भाव के सत्य को वेदकाळ के भीतर (संस्कृति के रूप में) प्रति-ष्ठित करने के योग्य विधान को अन्तर्भाव देना सामंत युग की परिस्थितियों के बाहर का। उसके लिए एक और भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की जरूरत थी दूसरी ओर मनुष्य की

सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य मात्र तब अन्तर जगत में स्थापित किए हुए था अब उसे एक स्वर्णपूर्ण संज्ञ के रूप में वह बहिर्जगत् में भी स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अज्ञानता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बोद्धि और साम्यविक है रही है। अनेक बाल्य युग साम्य युग के स्वर्ण की अत मूर्खो कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य का सुख-शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विलीन हो जाएगा।

‘स्वप्न बन्तु कम जाय तस्य नर स्वर्ण मानसी ही भौतिक मर
बन्तर जग ही बहिर्जगत् कम जाये बीया पाणि ६’

भौतिक जगत् की प्रारम्भिक कठोर परिस्थितियों से कुठित आदिम मानव की द्विज आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में डूब कर आनोदित हो जाएगी और यंत्र-युग के साथ साथ मानव सभ्यता में स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता में मनुष्य आदि ‘अहिमा’ को भी व्यावहारिक रूप में परिणत कर सकेगी।

‘मनुष्यत्व का उत्तम सिन्हाता निरूप्य हमको गाँधीबाबू
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवार’—

वर्तमान विरहव्यापी युद्ध के युग में उपर्युक्त विवेचना के लिए धार्य ही हो न हो सके हैं।

यदि स्वर्णयुग की आशा मात्र की अनूप जागृता की वास्तविक पूर्ति और पलायन प्रकृति का स्वप्न भी है तो वह इस युग की मरणात्यस साम्यविकता में नहीं मर्य और अमृत्य है। यदि इस विज्ञान के युग में मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से अपन जित पुष्पी पर स्वर्ण का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन मात्र के रिक्त और गन्धिर्य मनुष्य के जीवन के प्रति नवीन अनुराग नवीन बलता और रक्त नहीं मर सकता तो यह नहीं कहा है कि इस रंग

जबर्द, जमान क्बर पीड़ित' जाति वर्ग में विभाजित रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का जन्म हो जाय। किन्तु जिस जीवन-शक्ति की महिमा युग युग से पारलौकिक और कवि गाये जाये है, जिसके अभ्यासार्थी और समर्थकारों का विशेषण कर जाय के वैज्ञानिक शक्ति और सुख है, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी का गौरव मानव जाति के विश्व को ही इस प्रकार जीता-जायता नरक बनाए रखेगी इस पर किसी तरह विस्वास नहीं होता।

इन्हीं विचारधाराओं स्वप्नों और कल्पना से प्रेरित होकर मैंने युगवाची और 'ग्राम्या' को जन्म दिया। ग्राम्या के लिए युगवाची पुच्छ-भूमि का काम करती है। ग्राम्या की भूमिका में मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचकों ने मुख पर आक्षेप किए हैं। 'ग्राम जीवन में मिल कर' उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं सिद्ध सका कि मैंने ग्राम जनता को 'रक्त मांस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरनोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वप्न देखा है, और ग्रामों को सामंत युग के अड्डे के रूप में।

‘यह वो मानव लोक नहीं दे यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम सम्प्रदाय संस्कृति से निर्वासित।
‘मालव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत अमर्त्यक
सन्धिर्षी के अन्धाधारी की सूची यह रोमांचक।

इसी ग्राम को मैंने ग्राम्या की रंगभूमि बनाया है।

‘स्ति ऐतिषीं के प्रचलित पत्र जाति पति के बचन
निवृत्त कर्म है नियत कर्मफल—जीवन चक्र सनातन।

सांस्कृतिक दृष्टि से जिस ग्रिय अग्रिय या धातु मिथ्या के बोध से जनगण का जीवन परिचायित होता है उसकी ऐतिहासिक अभिव्यक्ति नष्ट हो चुकी है।

‘दे जैसे कठपुतले निर्मित युग युग की प्रेतलगा अविरत
इनकी गति निश्चि करती घंजित। —

यह बात 'सारा भारत है आज एक' के लिए भी चरितार्थ होती है। इस प्रकार मैंने ग्रामीणों को 'भाबी के स्वप्नपट' में चित्रित किया है, जिसमें—

‘आज मिट गए वैश्य दुःख सब धुआं तूपा के अंजन
भाबी स्वप्नों के पट पर युग जीवन करता मर्तन।
ग्राम नहीं वे नगर नहीं वे—मुक्त विद्या भी लप से
जीवन की झुड़ता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान बसा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करण
कषा का बीदित'—प्रमाणित हुई है।

किन्तु जनता की इस सांस्कृतिक मृत्पु के कारणा पर महीन विचार
बात पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते प्रत्युत
एक प्रमासी के अंश बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बीड़िन सहानुभूति
दे सका हूँ।

आज अमुन्बर लपटे सुबर, प्रिय पीड़ित बोपित जन
जीवन के ईन्दों से जर्जर मानव मुज हरता मन!

या

‘बूबा घर्म वण संज—उन्हें यदि प्रिय न थीब जन जीवन’
अथवा

‘इन कीड़ों का भी मनुज बीज यह सोच हृदय उठता पसीज’
बादि पंक्तियाँ हासिकता से सूख नहीं हैं। यदि मुझे सामंत-युग की
संस्कृति के पुनर्जागरण पर बिदबास होता तो जनता के संस्कारों के प्रति
मेरी हासिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता—‘इस तालाब में
(जन मन में) बाई लग गई है इस हलाना भर है इसके अन्दर का जल
बभी निर्मल है।—जो पुनर्जागरण की ओर इंगित करता है पर मैंने
लिखा है—‘इस तालाब का पानी सड़ गया है इस इमिपूर्ण जल से
पाम नहीं बनेगा उसमें अधिक्य के लिए उपयोगी क्या जल (संस्कृति)

भरना पड़ेगा।—जो सांस्कृतिक अति की ओर लक्ष्य करता है। मैंने 'यहाँ बरा का मुक्त रूप है' ही नहीं कहा है 'क्रिस्त पवित्र जन का केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे नाम बस सकता है? वह तो ग्रामीणों के दुर्गम पर जाँसू महाने या पराधीन सुभा-पस्त किसानों को उपस्थि की उपाधि देने के सिवा हमें बाधे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की बोधी सहानुभूति या क्या काव्य (पिटी पोवट्टी) से मैंने 'बे जाँसू' 'पाँच के लड़के' 'बह बुद्धा' 'ग्रामबन्धु' 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें वर्तमान प्रणाली के विकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थी।

डी० एच कारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हें हासिकता से सजा है पर हम दोनों के साहित्यिक उपकरणों में बड़ा भारी अंतर है। उसकी सर्वहास (मशीन से संपर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक वर्ग संस्कार है जिसका कारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जनसमूह (मॉब) की बीमारी उससे कहीं बहुरी आध्यात्मिकता के नाम में कड़ि पीठियों एवं अंधविश्वासों के रूप में पसरार हुए (फॉसिलाइज्ड) उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं। कारेंस ने पात्र अपनी परिस्थितियों के लिए सचेत और सक्रिय है। ग्राम्या के विद्यानायक अपनी परिस्थितियों ही की तरह बढ़ और बनेशन।

‘बज्रमुक्त, बज्रमुक्त हठी रूप जाँचन कर्यक
भुव भगवत की मूर्ति कर्मियों का चिर रक्षण’।

किर कारेंस जीवन के मूल्यों के सर्वत्र में प्राविष्टास्त्रीय मनोविज्ञान (बायलॉजिकल पाटि) से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचारनायक से, जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं सन् १९४७ ई० तक परधीन देश का कवि रहा हूँ। कारेंस जहाँ दण्ड-नीति (सेक्सटिपल) से मुक्ति

बाह्य है, मैं राजनीतिक आर्थिक दोषण से। फिर भी मुझ विश्वास है कि शास्त्रों को पढ़ कर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मैंने दरिद्रता-राज्य के प्रति हृदयहीनता दिखलाई है।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ है कि उसमें कल्पना के स्रोत को विषाद और वास्तविक पथ मिलता है। प्रभावों के दिखाहीन दृश्य सूक्ष्म आकाश में अग्नि कात्पनिक उड़ान भरने वाली अवस्था रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर काल-हीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी भरी ठोस अनुपम धरती मिल जाती है।

‘तार रहे हो गगन ? मृग्य भीखिया गहन गगन ?’

निःसंद शून्य, निर्जन मि स्थल ?

देखो नुकी, स्वर्गिक नु की !

मानव पुण्य प्रभु को ! —

ऐसी सत्य परिवर्तन की ओर इंगित करता है। ‘चित्तनी चिड़िया उड़े अकाल दाता है बरखी के पास’ वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उठर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाता मुक्त और तारक हो जाता है और हृषि कालिग्य व्यवसाय बलाहीन प्रभावदाय, साहित्य नीति धर्म बर्तन के रूप में एक भिन्न-भिन्न राजनीतिक आर्थिक व्यवस्थाओं में एक-एक विभक्त मनुष्य की सामूहिक केजना का ज्ञान अधिक सार्थक हो जाता है।

किए प्रयोग नीति सत्थों के तुमने जन जीवन पर
आवाहन न सिद्ध कर सक सामूहिक जीवन दिन

के अनुसार मध्य युग के अन्तर्गामी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धांतों की जन मनुष्य के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया।

और

‘वस्तुविभव पर ही जम यम का भाव विभव अवलंबित’

सत्य के आधार पर मेरा हृदय मनीष युग की भुविवाजों के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय की सामंजस्य की भूख चेतना का बोध दूध था। साथ ही अभाव पीड़ित जनसमूह की दृष्टि से अतृप्त इच्छाओं का सामूहिक सांत्विक विकास (सबकमेसन) किया जा सकता है इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे सबेह होने लगा।

आजादगी कवियों पर अतृप्त वाचना का माँझ मध्यमार्थ (बुझा) मनोविज्ञान (डेव साइकोलॉजी) के दृष्टिकोण से नहीं लयाया जा सकता। भारत की मध्ययुग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वाचना और मूक चेतना को काम देना रहा है जिससे बगल के ईश्वर कविओं के कौतूहल एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामंजस्य-युग की नैतिकता से पीड़ित हैं। हमारी लुभा (उपलब्धि) काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक समुह अभी निष्क्रिय नहीं हुआ है और यंत्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे रहा है, जिन पर अचलचित्त सामाजिक संघर्षों से उचित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव जाति का नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

‘पठ समथ भाव छप होने को जी’ नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब सब उदय
बन रहा मनुष्य की नव आत्मा सांस्कृतिक हृदय।

मेरी कल्पना नवियुग की उच्च मनुष्यता और सामाजिकता को निर्मित करने में मनुष्य का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक तथ्य का प्रयोग मैं इतिहास विज्ञान ही के वर्च में कर रहा हूँ जो बुद्ध और इष्टा के सामूहिक विकास के निमनों का निरूपण करता है—‘भाग्य नून यम रूप नाम होठे परिवर्तित युगम्। मैं यह

ये मन्ता है कि सामूहिक विकास में बाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की कल्पना (सादृश्य), तदनुकूल पहले ही विकसित हो जाती है। यथा—

‘अप्य जीवन के अतर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिस्थिति।

जिन् उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन (सबकांश) के आश्रित विपत सांस्कृतिक युद्धों की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं जिसका परिणाम बाह्य स्वरूप होता है, साथ ही वह मन विकसित निश्चेतन (अनकांश) की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता बना है।

अप्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सकी है, उनका मैंने ऊपर संक्षेप में निष्कर्ष करने का प्रयत्न किया है। मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का बीज भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि बीसा के लेकर ज्ञान्या तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना की जायी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, चीजें आदि उसकी पुष्टि के लिए धीरे-धीरे काम करने रहे हैं।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इतर की हतियों में कला का भाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों को प्राथम्य मिलना चाहिए। जिस युग में विचार (आदिधिया) स्वयं बलित्व और स्पष्ट हो जाता है उस युग में कला का अधिक योग दिया जा सकता है। अभीसवी मयी में कला का कला के लिए प्रयोग होने लगा था। वह माहिर्य में विचार जाति का युग नहीं। निम्न, क्या चित्रकला में क्या साहित्य में इस युग के कलाकार

केवल नवीन तकनीकों का प्रयोग मान कर रहे हैं जिसका उपयोग भविष्य में अधिक संगतिपूर्ण रूप से किया जा सकेगा। आगरा-युव के कवियों में कविगुरु काशिबाब और रबीन्द्रनाथ की तरह, कला का अखण्ड सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कबीन्द्र रबीन्द्र अपनी रचनाओं में धार्मिक-युग के समस्त कलाबोध का नवीन रूप से उपयोग कर सके हैं। उससे परिपूर्ण कलात्मक, संगीतमय भावप्रबंध और दार्शनिक कवि एवं साहित्य-व्यष्टि सृष्टान्त्रियों एक वृत्त कोई हो सकता है इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं। भारत जैसे संपन्न देश का समस्त धार्मिकजीवन बाह्यमय अपने युग के सांस्कृतिक समन्वय का विस्मयनापी स्वयं देखने के लिए बुझने से पहले जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, एवं आलोचित प्रवीण की तरह, एक ही बार में प्रकटित होकर, अपने बौद्धिक सीमाओं के प्रकाश में संसार को परिष्कारित कर पया है। फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विस्मय-युग के अघात सदृश पराजित एवं अविज्ञ कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासंभव प्रयोजन चाहिए। अपनी भूम-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोजिताबाध ही को प्रमुख स्थान देता हूँ लेकिन सोने को मुनित करने की वेष्टा स्वयंकार को अवरुद्ध करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। जैसे सभी युगों का सत्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जनसमाज की सामूहिक प्रगति के चिह्नों का पतापती है। इसमें शक नहीं कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन सत्य की संपूर्ण जड़ों में प्रति नहीं करता। उसके व्यक्तित्वत मुख हुआ मीरास्य बिछोड़ बाहि की मावनाएँ उसके स्वभाव और इति का वैयक्तिक उसकी मुख-विशेषता प्रतिपाद बाहि का किसी भी सामाजिक जीवन के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमें भी शक नहीं कि एक विकसित सामाजिक

दिया है वही मैं मावी मागवता के सत्य का सफरगा-पूर्वक बाबी दे सका हूँ और वही मैं किसी कारणवश अपनी कल्पना के केन्द्र से व्युत्पन्न या विलग्न हो गया हूँ वही मेरी रचनाओं पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है और मैं केवल आसिद्ध सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका में मैंने उस प्रस्तावती के उत्तरों का भी समावेश कर दिया है, जो मुझे द्वार की वास्तव्यता भी मेरे मेरे आलोचक की हैसियत से आल इडिमा रेडियो से डाइकास्ट किए जाने के लिए तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आक्षेप प्रस्तुत सपह में सम्मिश्रित रचनाओं पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव-समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है उसे वर्तमान के अन्धकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के बार-बार विचारों अर्थशास्त्र और राजनीति के मतभेदों द्वारा इस संदिग्धकाळ के भूचा द्वेव कलह के आतावरण के भीतर से अपने को बानी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के सर्वोच्च ज्ञान विज्ञान स्वयं कल्पना सब बुलमिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जाये। वर्तमान बुद्ध और रक्तपात के इस पार बह एक गभीर प्रबुद्ध, विकसित और हँसटी-बोछटी हुई विद्वत्-निर्माण में निरत मानवता है अपनी सृजन-सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिणाम काळ के विधुग्ध केन्द्र की अत्यन्त सीमाएँ और अपार कठिनाईएँ हैं। इन पृष्ठों में अपने संबंध में लिखने में यदि कहीं त्रात-अत्रात रूप से आत्मसन्तुष्टि का भाव आ गया हो तो उसके लिए मैं हार्दिक शेर प्रकट करता हूँ। मैंने कहीं-कहीं अपने को दुहराया है और धार्य विचारपूर्ण सिद्धांतों का विस्तार-पूर्वक समाधान भी नहीं किया है। अन्त में ये धार्या की अन्तिम 'विनय' से ही पक्षियाँ उद्धृत कर केजनी को विराम देता हूँ—

हो बरणि जनों की जगत स्वर्ग—जीवन का घर
मन मानव को दो प्रभु, मन मानवता का घर ।

ईश्वरीश्वरन, यक्षमोक्षा
१५ दिसम्बर १९४१

सुमित्रानन्दन पंत

प्रस्तुत संस्करण

बाबुलिक बलि नाम २ के इस संस्करण में मैंने यज्ञ-तन्त्र परिवर्तन
परिवर्तन कर दिए हैं जिससे यह मेरी वर्तमान विचार-धारा का प्रति
निधित्व कर सके। प्रस्तुत संस्करण की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए
'उत्तर' तथा 'निर्देश' की भूमिकाएँ भी सहायक सिद्ध होंगी।

१८७ बी कस्तूरबा गांधी मार्ग
इलाहाबाद
२४ जुलाई ६०

सुमित्रानन्दन पंत

आधुनिक कवि
२

1. प्रतीक प्रयोग के लक्षण
2. गुणित ले 3 दौरे निम्नलिखित निम्नलिखित
3. एक नमूना 4 नोड विभाग 5 प्रमाण
6. निम्नलिखित 7 लक्षण 8 प्रमाण 9 प्रमाण 10 प्रमाण

✓ 9 प्रमाण

2 विभाग

✓ 3 प्रमाण प्रमाण ✓

✓ 4 प्रमाण प्रमाण प्रमाण - 69 पेज 6 ✓

✓ 5 प्रमाण प्रमाण प्रमाण

✓ 6 प्रमाण प्रमाण

✓ 7 प्रमाण प्रमाण - 69 पेज - 14

✓ 8 प्रमाण प्रमाण

✓ 9 प्रमाण प्रमाण

9. प्रमाण प्रमाण - 69 - पेज - 22

9. प्रमाण प्रमाण ✓ 22

9. प्रमाण प्रमाण - 69 - पेज - 28 ✓

9. प्रमाण प्रमाण ✓

9. प्रमाण प्रमाण ✓

9. प्रमाण प्रमाण - 69 - पेज - 37

9. प्रमाण प्रमाण - 69 - पेज - 40

9. प्रमाण प्रमाण - 69 - पेज 42

9. प्रमाण प्रमाण ✓

9. प्रमाण प्रमाण ✓

9. प्रमाण प्रमाण 112 प्रमाण प्रमाण प्रमाण प्रमाण

106 प्रमाण प्रमाण - 69

107 प्रमाण प्रमाण - 69

छोड़ दुर्गों की मूढ़ छाया,

छोड़ प्रकृति से भी माया

बासे ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा हूँ सोचन ?

भूल बभी से इस जग को !

उज्ज्वल तरंग तरंगों को

स्वरूप के रंगों को

तेरे भ्रू भ्रंगों से कैसे बिछड़ा हूँ निज मूढ सा-मन ?

आयिका

भूल बभी से इस जग को !

कोयल का वह कोमल बोल } पुरुष और स्त्री

मधुर की बीणा मनमोल

कह जब तेरे ही मिय स्वर से कैसे भर लूँ सजनि भवभ ?

अवलीकटण किष्क अष्कट

भूल बभी से इस जग को !

आ-मस्मिन्त किसलय-दल

मुवा-रिम से उतरा जल

आ-अवधामृत ही के मद में कैसे बहला हूँ जीवन ?

भूल बभी से इस जग को !

(१९१८)

विनय

मा ! मेरे जीवन की हार
तेरा गंजुल हृषम हार हो

अधुनकों का यह उपहार !

मेरे सफल क्षमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल

अमनसमय मुक्तकंकार !

मेरे भूरि दुखों का भार
तेरी उर हृषा का फल हो
तेरी आशा का मृगार
मेरे रति कृति सत आचार

मा ! तेरी निर्भयता हो नित

तेरे धुवन के उपचार—
मोह विनय है बारंबार !

जनवरी (१९१८)

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आभा रंगिनि !
 तुने कैसे पहचाना ?
 वहाँ कहीं हे बाल बिहंगिनि !
 पाया तुने यह गाना ?

‘सोई भी तू स्वप्न-जीव में
 ‘पंजों’ के सुप्त में छिपकर, परती दीक्ष में पज
 मूम रहे वे मूम द्वार पर, नदी के तट में पछे
 प्रहरी-से जुगनू माना पछेदार-
 (सुन्दर प्रश्न)

शनि किरणों से उतर उतर कर
 ध्रु पर वामन नमपर नमःप्राप्ती प
 मूम नवल कमियों का मृदु मूम ओके
 सिखा रहे वे मूमकाना

स्नेह-हीन तारों के दीपक स्वाम्य सुन्दर है
 स्वास धून्य वे तब के पाठ, अमनवीन्द्रग
 बिबर रहे वे स्वप्न अर्चन में अमृत स्नाने अमृत
तम ने या मंडप ताना चिह्न दिया है।

कूक उठी सहमा सह-बानिनि !
 या तू स्वागत का गाना
 किसने तुझको अंतर्प्राप्ति !
 बतलाया उसका नामा ?

/ निरुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत से
 छाया-रत्न बहु छाया-हीन
 बस रह रहे थे बस निधिर
 बसा ठुठुका टोना-माता

नित्य ही छाया रही थी मुख बासि बास
 निधि के अन्त से हो भी-हीन
 कमल कोड़ में बंदी का बधि
 कोक छोले से बीबाना

मूर्छित भी इन्द्रियाँ स्तब्ध जब
 जड़-चेतन सब एकाकार
 शून्य विश्व के उर में केवल
 साँसे का आना जाना

तूने ही पहिले बहु दृष्टि।
 बाया आनृति का पाना
 भी-मुख-छीरम का नमचादिधि।
 गूँथ दिया आना जाना

निरुद्ध तम भागो छाया
 व्योम-गुन में हो साकार
 बसत गया इत अवत-आल में
 बर बर नाम-रूप माना

सिहर उठे पुच्छित हो दुम-बल
 गुप्त छमीरण हुआ मबीर
 हास कुमुद-बचरों पर
 दिक् मोती का सा बाना

१८
 तुने पलक फेंकी मुखर्ण छवि,
 जदी नूरनि, डोछे मधु बाल
 स्वरन कम्पन औ' नव जीवन
 शीखा जग मे अपनाना

प्रथम रसि का आना रगिनि !
 तूने कैसे पहचाना ?
 कहीं कहीं हे बाल बिहंगिनि !
 पाया यह स्वयिक गाना ?

नी वासिका

२५५

एक बीजा की मृगु संकार।
कहाँ है गुन्दरखा का पार।
तुम्हें किस दर्पण में गुह्यमारि,
दिखाऊँ मैं साकार।
तुम्हारे धून में बा प्राण
संन में प्राप्तु गंगा स्नान
तुम्हारी बाणी में कस्याहि।
त्रिवेणी की कहरों का गान।
अपरिचित चितवन में बा प्राण
सुखामय साँसों में उपचार,
तुम्हारी छाया में आचार,
सुख वेष्टाओं में आभार।

स्त्री में
पुत्री में
रक्तधान

✓ करण भीहों में बा
हास में शेष का
तुम्हारी आँसों में कर
प्रेम है पावा बा

कपोलों में तर के मृगु मान
अवण नयनों में प्रिय बर्तन
छरक सकिनों में संकोच
मृगुल अवरों में मधुर बुध।
उपा का बा तर में आचार
मृगुल का मुख में मृगुल भिन्न
चौरनी का स्वभाव में यात
विचारों में वरुणों के साँस।

विन्दु में भी तुम सिन्धु बसन्त,
 एक स्वर में समस्त संगीत
 एक कलिका में अस्मि बसन्त
 सर में भी तुम स्वर्ग पुनीत।

विन्दु सर के मुँह माखों से
 तुम्हारा कर मिल जब खूंगार,
 पूजता हूँ मैं तुम्हें, कुमारि!
 मूँ बुझते बूग डार!
 जबल पलकों में मूर्ति सँवार
 पान करता हूँ रूप अपार
 पिपस पड़ते हैं प्राण
 जबल बसती है दुग जल धार।

बालकों-मा ही तो मैं
 याद कर रोता हूँ आ
 न जाने होकर भी आ
 पुन विम से करता हूँ

× × ×
 मूँ पलकों में प्रिया के ध्यान को
 धाम के जब हृदय। इस आश्रान को।
 विमुक्तकी भी तो भी भरसकती नहीं
 प्रेयसी के मृग्य धामन स्थान को।
 तेरे उज्ज्वल आँसु मुपनों में सरा
 बाल करेये भय हृदय। उनकी व्यथा
 अनिल पोछेयी करण उनकी बचा
 मधुर बालिबाएँ मायेयी सर्वदा।

'आँसू' से

बिरह है अचाना यह करवान !

कल्पना में है कसकटी-वेदना
अधु में बीता सिसकता गान है
सूख जाहों में सुरीले छन्द हैं,
मचुर लज्ज का क्या कहों अचसान है !

स्मिणी होया पहिला कवि
आह से उपमा होगा धान
समझ कर आँखों से चुपचाप
बड़ी होयी कविता अनजान !

हाम किसके घर में
उठाई अपने घर का भार !
दिसे अब धूँ उपहार
गूँ यह अधुकरों का हार ! !

पावस ऋतु-सा जीवन
समझा अपार मन,
धुँल्ले बुले सँवले
मेरे भरे नयन !

✓ कभी घर में आगित मृदुभाव
बूझते हैं बिहनों-से हाम !
बरन कविनी से कोमल धाम
कभी जुक पड़ते हैं असहाय !

हरबनु-सा आशा का सेतु
 ननिल में बटका कमी बछोर,
 नन्ही उरेंगी नूमिल मोर,
 पीबती माबी चारों मोर।

तड़ित् सा तुमुचि। तुम्हारा ध्यान
 प्रभा के पलक मार, उर चीर
 गुड़ मजंग कर जब गंभीर
 मुझे करता है अधिक बचीर
 बुगनुओं-मे उर मेरे प्राण
 सोचते हैं तब तुम्हें निदान।

देखता हूँ जब उपवन
 पियालों में फूलों के
 प्रिये भर भर अपना यौवन
 रिझाता है मधुकर को,

नबोड़ा बाल-सहूर
 मजानक उपकूलों के
 प्रमूनों के डिग रुक कर
 सरवती सतबर,

बकली जाकुलता नी प्राण।
 नहीं तब करती मुहु आयात
 सिहर उठता गुहा गात
 छहर जाते हैं पम अजात।
 देगता हैं जब पतला

० इन्द्रबनुपी हलका
 रेशमी धुंधल का
 मोनती है बुमुद-नला

छड़ी नैयरा

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
 भरो करता वह अन्तर्धान
 न जाने तुमसे - २२६ -
 चाहते क्या भावान ।

X

X

X

बावलों के छायाभय में
 घूमते हैं बच्चों में खेल ।
 अचानक बम्बर के दो दोल
 बीच में बकर बाल में खेल ।

शिखर पर बिखर सकल-रसबाह
 बेधु में मरणा का जब स्वर,
 मेमनों-से मेमों के शाल
 कुवकले के प्रभुविश गिरि पर ।

हनुमान की मुन कर टंकार
 चक्क नपला के बचल बाक
 बीकटे के गिरि के पस पार
 दोल चकटे-विशिष्टों की पार २२७
 सकल जब उनको हुत धुमकार,
 रोक - रेटा का मेवाधार ।

बचक के जब के विमल बिचार
 अचानक से उठ उठ कर ऊपर,
 कपुत व्यापकता में अधिकार ;
 न हो जाते के सत्कार,

विहंगम का बैल गिरि पर
 सुहावा का विद्याल बम्बर ।

पपीहों की बह पीग पुकार,
 निमंत्रों की भारी झड़ झड़
 भीगरीं की भीनी झगकार
 पनों की गुब्ब गमीर बहुर
 बिम्बुओं की छनती छनकार
 बाधुरों के बे बुहरे स्वर

पुस्तक (देवी) हृदय हलते व विविध प्रकार
 की छन्दों में गावस के प्रस्तोतद।

✓ सैब ऐंभीमा भू-मुरचाप—

धैत की मुचि यों बारम्बार—

हिजा हरियाली का गुगुरुर

मुला भरनों का झलमल हार

बरद-पट से दिसला मुल-बन्द

पलक पल पल चपका बे मार

मल उर पर मुर सा ॥
 मुमुनि घर देती है साकार ॥

(१९२२)

ग्रन्थि से

इन्तु पर, उस इन्दु-मुख पर, साध ही
ये पड़े मेरे गमन को उदय से
लाज से रक्षित हुए थे—पूर्व को
पूर्व का पर वह द्वितीय अपूर्व का !
बाक रखनी ही अन्ध भी होखती
प्रमित हो सति के वदन के बीच में
बचल रेखाकित कभी भी कर रही
प्रमुखता मुख की मुछवि के काख में।

एक पल मेरे प्रिया के दृष पल्लव
वे सठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
बपल्ला मे इस विकम्पित पुल्लव से
दृढ़ किया भारी प्रथम सम्बन्ध का !
लाज की मायक सुष्ट ही लाजिमा
फैल गालों में नवीन पुलाव-से
सम्बन्धी भी बाढ़ ही लीन्दर्व की
बचल्लुके सन्मित बड़ी से सीप-से
इन नहीं में—रूप के आवर्त-से
भूम-फिर कर, नाच से फिसके गमन
है गही दूरे मटेक कर, अटक कर
मार से बच कर तपन लीन्दर्व के

अब प्रथम का प्रथम परिचय मुखता
से चुकी भी हृष्य को तब मल से
बीठ कर मने निकट ही धान्त हो
विगत बाणी में प्रिया से मों कहा—

'समिप्त-शोभे ! जो पतित माहृत भ्रमर
 सब्य हो तुमने लगाया हृदय से
 एक तरस तरंग से उसको बचा
 दूसरी में क्यों बुझाती हो पुनः ?
 'प्रेम कष्ट' से अमानक बिछ हो
 जो मुमन तब से बिसग है हो चुका
 निज दया से प्रवित चर में स्वाम दे
 क्या न सरस बिकास बोयी तुम उसे ?
 'मस्तिन उर धूमर तिमिरि का बहुर-का ?
 फनक जामा में बिसाते हैं कमल
 प्रिय बिना तम-क्षेप मेरे हृदय की
 प्रलय कलिका की तुम्हीं प्रिय कान्ति हो ।

'मह बिस्मय ! कठोर हृदये ! मम को
 नास्तुता की न्या बजायी है नहीं ?
 निदुर का मुसको अरोसा है बड़ा
 गिरि दिसाएँ ही अमय जाचार हैं ।
 'मसान तम में ही बसाधर की कसा
 नौमुवी बन बीति पाली है धवन
 बीनता के ही विकम्पित पाप में
 दान बढ़ कर छलन्ता है प्रीति से ।

'प्रिय ! निराश्रित की कटिज बहिं नही
 शिपिल पड़ती हैं प्रलोमन मार से
 अस्पता की संशुचित आँखें सदा
 जमड़ती हैं अलम भी अपनाव स ।
 'दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
 गरल उपकृति का मजल मानम प्रिये !

शीन कदवालो का भी लोह को
है वृहत् प्रतिबिम्ब विस्तारता सदा।

सरस के निर्मल तिमिर की मोट में
मय विभन के पलक बल सा भूमता
कोन यावक कर मुझे है सु रहा
प्रिय ! तुम्हारी मुक्तता की आह से ?
'यह अनोखी छेड़ि है क्या प्रेम की
जो कपाणों से बधिर है देखता
दूर होकर और बड़ता है तथा
बारि पीकर पूछता है घर सदा' ?

हनु की छवि में तिमिर के गर्भ में
अनिल की ध्वनि में सलिल की वीथि में
एक उत्सुकता बिजली की सरस
भुवन की स्मिति में कला के जपर में।
निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अधनि से उर से भूनेतिभि ने उठा
एक पल निज स्नेह स्वामस दृष्टि से
स्निग्ध कर ही दृष्टि मेरी वीथ सी।

३०५

मुरपति के हम ही हैं अनुसर,
अमरपति के भी अनुसर
मपपुत्र की सबसे कल्पना
वातक के फिर जीवनसर

सुख सिन्धी के नृत्य मनी
सुभय स्वाति के मुक्तता
विहग बर्ष के यम विषा
वृषक वातिता के जल

जलामर्षों में कमल दलों-सा
हमें खिलाता नित दिगुहर,
पर वातक-मा वायु सचल रक्त
विमल दत्ता चुन सत्तर शीत

कपु अहर्षों के बल पत्तनों में
हमें झुलाता जब सामर,
वही भील सा सपट बाहु मह
हमको ले जाता ऊपर।

मृमि-जब मैं छिप विहग-ने
पैना कीमल रोमिल पल
हम धमक्य अस्पृष्ट बीजों में
मैंने नाँव छुड़ा जड़ पंक,

विपुल वस्त्रना-से विमलन की
विमलन बन पर, भर मय अंक
हम फिर भीड़ा कीलुक्त वल्ले
छा अमल सर में निरंक।

कमी बचानक मूर्खों का छा
प्रकटा बिकट महा आकार,
कड़क कड़क जब हँसते हम सब
बर्त सज्जा है संसार

फिर परिजों के बच्चों-से हम
सुमन सीप के पंख पसार,
समुद्र पीछे बुधि ज्योत्स्ना में
पकड़ हनु के कर सुकुमार।

बुरबुर-बुधि धारक-रक्त-धरमिन्
तम के यमुना-धन में स्वाम
हम बिछाक अम्बाक-बात-से
बहते हैं अमृत अविद्यम

हवमन्ती-सी कुमुद-कला के
रगत-कटों में फिर अविद्यम
स्पर्श-हँस-से हम मुहु ध्वनि कर
कहते प्रिय-सम्बोध लक्षाम।

इस विद्युदाम बहा ब्रुत
स्त्रबभुव की कर टंकार,
बिकट पटह-से निर्वोपित हो
रक्षा विधिलों-का आधार

पूर्व पूर्व कर बघाबुध से
भूवर को बलि भीमाकार
महोग्गल बाधब-सेना-से
करते हम निष्ठ बाधु-विहार।

झोम-विपिन में जब बसन्त-सा
 झिल्ला नभ परस्फुरित प्रभात
 बहते हम सब अनिल-स्रोत में
 फिर लमलम-लम के-से पात

उदयाचल से बाढ हुंसा फिर
 उड़ता अम्बर में अनघात
 फँस स्वर्ण-पंखों से हम भी
 करते द्रुत मास्त से बात।

१२७

धीरे धीरे संशय-से ढूँढ,
 बड़ अपघात-से खींच अछोर,
 नम के उर में उमड़ मोह-से
 फँस लालसा से निधि मोर

इन्द्रबाण सी झोम घुड़टि पर
 लटक मौन बिन्ता-से चोर,
 घोष धरे विप्लव-मय-से हम
 छा जाते द्रुत चारों ओर।

पर्वत से लघु धूलि धूलि से
 पर्वत बन पल में साकार—
 काल-वक्र-से चढ़ते गिरते
 पल में जलधर, फिर जल-धर

कभी हवा में महल बना कर,
 सेतु बांध कर कभी अपार,
 हम बिलीन हो जाते सहसा
 विमल-मूर्ति ही-जे निस्सार।

मम धपन की छायाओं में
ऐसा मकड़ी का-सा जाक
बम्बर के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हम उत्काश

छिर जनम-उर की
लखि इषि होकर उठाक—
बाध में मूर्च्छित कल्पों को
बाध करे हिमवत डाक।

हम सागर के पल हास हैं
बल के धुम धपन की धूल
बनिक ऐन ऊँचा के पल्लव
बारि-बसत समुद्र के धूल

मम में-इषनि मयनि में मम
लखि-मम भारत के धूल
हम ही बल में बल बल में बा
धिन के लम पावक के धूल

मोम-मैलि तारों की बलि
लखे-बलक, धपन के गान
म मयधक तारों की लज्जा
पोत्ता के हम लखि के गान

पवन-बेनु, रवि के पाण्डु धम
लखि-बलक के बिरल-बिरल
धोम-पलक पल-बन बहते बल
ममनि की कल्पना महान।

61 मुसकान

कहिये क्या मुसकान जब जग
कभी आता है इसका ध्यान !
रोकने पर भी तो सजि हाथ !
नहीं रखती है यह मुसकान !

बिपिन में पावस कैसे दीप
मुकोमल सहसा सी सी भाव
सजग हो उठते निठ उर बीच
नहीं रख सकती तनिक दुराव !

कस्यना के ये शिष्ट मादान
हैंसा बेटे हैं मुझे निदान !

✓ ताकों से पलकों पर कूब
मीद हर सेते नव नव भाव
कभी बन हिमजल की लघु बूँद
बढ़ते मुझसे फिर अपनाव

गुदगुदाते ये तन मन प्राण
नहीं रखती जब यह मुसकान !

कभी उड़ते-पतों के साथ
मुझे मिलते मेरे मुकुमार
बढ़ाकर कह्यो से निज हाथ
बुझाते फिर मुझको उस पार

नहीं रखती मे जग का आन
और इस पड़ती हूँ अनजान !
रोकने पर भी तो सजि हाथ
नहीं रखती जब यह मुसकान !

मीन निमन्त्रण

सूख ज्योत्स्ना में जब संचार
वक्रित रहता छिछू सा नाशान
मिरब के पंक्तों पर छुछुमार
विचरते हैं जब स्वप्न बजान

न जाने नखबों से ...

निमन्त्रण देता मुझको मीन।

सपन मेघों का भीमाकाष्ठ
बरबता है जब ठमसाकार,
धीरे धरता समीर निःस्वाध ५
प्रकार क्षरती जब पावस बार

न जाने तपक तक्ति में कौन
मुझे हँसित करता तब मीन।

हैल मधुषा का जीवन-भार
पूँज उठता है जब मधुषाध
मिथुर उर के-से मृदु ज्वनार
मृदुम जब जुल पड़ते सोःस्वास

न जाने सौरभ के मित कौन
उद्वेष्टा मुझे भिन्नता मीन।

मुझ ब्रह्म-धितारों को जब ...
: तिलु में मग्न कर फेलाकार,
मुझबुझी का व्याकुल संचार
जना विधुर देती मज्जात

उठा तब लहरो से कर कौन
न जाने मुझे मुकता मीन।

न जाने कीन भये छविमान
 जान मुक्तको बबोच बज्जान
 मुझाते हो तुम पच बनजान
 पूँछ सेते छिद्रों में मान

महे मुक्त मुक्त के सहचर मौन !
 नहीं कह सकती तुम हो कीन !

(१९२१) तमसो मा ज्योतिर्गमय
 मृत्योर्मा मृतगमय
 अस्मिन् मा सद्गमय

(१)

मात्र तो सौरभ का मधुमास
विशिर में भरता सुनी साँस।

वही मधुमास की मुजित डाल
मुझी की जो जीवन के भार,
अकिञ्चनता में मित्र तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार।
मात्र पावस नद के उद्गार
काल के बगते चिह्न कपल,
प्रात का सोने का संसार
बला बेटी सन्ध्या की पनास।
अपिछ जीवन के रंग-उभार
हृदयों के हिलते कर्नाल,
क्यों के बिकने वाले व्याल
कँचुली काँस सिचार

भूँबते हैं सबके दिन बार,
सभी फिर हाहाकार।

(२)

मात्र बचपन का कोमल पात
पल का पीला पात।
बार दिन गुगद पारिणी रात
बोर फिर अन्यचार, अमात।

विशिर सा घर नयनों का नीर
। झुलस देता पालों के पूर

प्रलय का बुलबुल छोड़ अभीर
बनर पाठे बघरों को नृह !

मृदुल होठों का हिमजल हास
छड़ा जाता मिस्त्रास समीर
सरल भीहों का सरवाकाश
बेर छेदे घन फिर चम्पीर !

दृश्य सोंसों का विधुर विरोध
झुकाता बघर-मधुर संयोज्य,
मिठन के पल केवल डो-बार
विश्व के कल्प अपार !

अरे वे अपकल बार नयन
बाठ भीसू रोते निरपाय
उठे-रोमों के आडिपन
कसक उठते काँटो-से हृत्प !

(३)

किसी को सोने के कुछ सान
मिल नये यदि ज्ञाप भी कुछ मान
चुका सेवा कुछ कम ही व्याप
काल को नहीं किसी की लाप !

विपुल मणि रत्नों का छवि बाह
हृदयानु की सी छटा विरास—
विभव की विधुल-ज्वाल
बनक छिप जाती है तत्काश

भोतिशों जड़ी मोह की शर
हिना पाठा बुधबाप अपार !

होमठा हजर जम सोचन
मूर्खती उबर मृत्यु क्षण क्षण
बनी उत्सव भी, हास ह्रस्वास
बनी भवसाध भय उन्मत्तास !

अधिरता देख जगत की भाप
गूँघ्य भरता समीर निश्वास
हालता पातों पर चुपचाप
जोस के धाँसू मीसाकास

सिख उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उड़गत !

(१९२४)

निष्ठुर परिवर्तन

(१)

निष्ठुर परिवर्तन।

तुम्हारा ही तावड़ा नर्तन
विस्म का करन बिबर्तन।
तुम्हारा ही मयमोन्मीषण
निक्षिप्त उन्माद पतन।

बासुकि सहाय फन।
कल अलसित करन तुम्हारे बिह्व नि
छोड़ रहे हैं बय के विह्वत वसस्वत।
छत छत केओन्मसित स्मित पूकार, सु
धुमा रहे हैं जगाकार जगाती का अन्म
मृत्यु तुम्हारा करन दस्त कंचुक कम्पान

बसित विस्म ही निष्ठुर
बक मुग्धक
विह्वलक।

(२)

दुर्जेय विस्मयित।

जगाते छत कुरवर, करनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल भाव
धूमते छत छत भाव्य जगाव
छत छत रस के जगों के छाव।

तुम मूर्खों नृप-से जगती पर बड़ अनियंत्रित
 करो हो संसृति को उन्पीड़ित पद मर्दित
 मज्ज मगर कर, मज्ज जवन प्रतिमाएँ खण्डित
 हर स्ते हो विमथ कला कौशल बिर सन्धित !
 आदि ध्यादि बहु वृष्टि बात उत्पात भ्रमंगल
 बहि, बाढ़ भूकम्प तुम्हारे विपुल सैन्य बल,
 बड़े निरकुश ! पदापात से जिनके बिह्वल

हिल हिल उठता है टकमल
 पद दलित परातल ।

(३)

जगत का अद्विगत हृन्मन
 तुम्हारा ही मय सूचन
 निश्चित पकड़ों का मीम पतन
 तुम्हारा ही आभरण !

विपुल वासना विरुध विरुध का मानस दलदल
 धन रहे तुम फुटिल काल हृदि-से घुस पत-पत
 तुम्हीं स्वद सिञ्चित संसृति के स्वर्ण दास्य दल
 बलमल बेते बर्षोपल धन बाँधित हृदि पल !
 जये सतत ध्वनि स्पन्दित जगती ना दिग्मण्डल

मेरा गमन सा सरल
 तुम्हारा ही समाधि स्थल !

(४)

कास का अकड़न मुकुटि विभास ~~नहीं~~
 तुम्हारा ही परिहास
 विश्व का अमु पूर्ण इतिहास !
 तुम्हारा ही इतिहास !

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रसमंकर
 सधर छेड़ बेठा निरर्थक संसृति में निर्मर,
 भूमि भूम बाते जलज्वर सीध मूर्गे वर
 नष्ट नष्ट साम्राज्य—मूर्ति के मेघादम्बर !
 अये एक रोमाञ्च तुम्हारा दिगु कम्पन
 गिर गिर पड़ते भीत पति पोछों-से जड़पत
 आक्रोशित अम्बुधि फेलाप्रत कर छत छत का
 मुख भुजंगम-सा इषित पर करता मर्दन !
सिक पिम्बर में अख पचाधिप सा बिलदानन
 बसाहूत हो गगन
 कात करता गुह मर्दन !

(५)

जगत की छत कातर नीलार
 बेवटी बधिर ! तुम्हारे कान !
 अमु मोलों की अवधित बार
 सीपटी छर पापाय !

अरे शय शय सी सी निःस्वाप्त
 छा रहे जगती का आकाश !
 अगुहिन् नहर नहर माकृन्ति
 प्रस्त करती मुख धाम्नि !

(१)

हाथ सी दुर्बल भ्रात्रि ! —
कहाँ मस्तर बगती में दान्ति ?
सृष्टि ही का तात्पर्य अद्यान्ति !
जगत अनिरत जीवन सधाम
स्वप्न है वही विराम ।

एक सी वर्षे मगर उपवन
एक सी वर्षे, बिजय बन !

—वही धी है असार संसार,
धृक्क, सिद्धक संसार !
आज बबोधत हृम्य अपार
रत्न दीपावलि मन्त्रोच्चार
जसकों के बस धम्म बिहार
मिन्नियों की जनकार
निवस निशि का यह निरव बिगाल
मेघ भारत का माया जाल ।

(१९२४)

(१)

नेत्र का यह अनिष्ट मर्म
 वेवर्तन जग जग व्यावर्तन
 इधर से धर का अन्वेषण
 नेत्र का तन्मयुक्त दर्शन। अष्टावक्र

अन्तः से एक बहूत चर्म
 सृष्टि की सठ्ठी तरल तरंग
 समक सत सत बुबुब संसार
 बूझ पाते निस्सार।
 बना सैकड़ के तट बहि
 विष है ही जगत।

(२)

एक छवि के अक्षय उदगम
 एक ही सब में स्पन्दन
 एक छवि के विमात में तीन
 एक बिम्ब के बाधिन।

एक ही लोठ लहर के छोर
 समय मुख बूझ निधि मोर, अन्तः
 इन्हीं से पूर्ण नियुक्त संसार,
 सुमन ही है, संसार। हा

सूँधी नयन मृत्पु की रा
 कोकणी नव जीवन की प्रा
 शिपिर की सार् प्रलयकर वा
 बीज बोटी जगत।

म्हान कुसुमों की मूषु मुसकान
फसों में फलती फिर अम्हान
महल है, खरे, आरम वलिदान
जयत केवल आदान प्रदान !

(१)

एक ही तो बसीम उस्सास
बिस्व में पाता विविधाभास
उरल बसनिधि में हरित बिसास,
रान्त अम्बर में नील विकास

वही उर-उर में प्रेमोष्णवास
काव्य में रस कुसुमों में बास
बचल तारक पलकों में हास
सोस रहरो में सास !

विविध दृष्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर सवार !

(४)

बहा प्रभा का सत्य स्वप्न इलजमली आता
हृदय में बनता प्रणय अपार
छोचनों में रावण्य अनूप
लोक सेवा में शिव अविभार

स्वरो में ध्वनित मधुर गुकुमार,
साय ही प्रेमाद्वार,
दिष्य सीमर्य स्नेह सारार
माधनामय संसार !

(५)

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण पकता विविध प्रकार
कहीं राखी बपटा सुकुमा
कहीं बेड़ी का मार!

(१)

कामनाओं के विविध प्रकार
छेड़ बगली के सर क सार,
प्रपाटे जीवन की संकार
स्फूर्ति करते संभार

बूम बूम बूम के पुलिन अपार
छलकती आशामृत की बार!

पिबस होये का हिल्ला हास
धूपों को रोता जीवन रात
बेचना ही में तप कर प्राण
बसक बिखलते स्वर्ण हुआस!
तरसते हैं हम जादों याम
इसी से मुख अति सरस प्रकार
हालते निद्रि बिन का संशाम
इसी से जप अनिराम
बसभ है इष्ट अतः अनमोल
साधना ही जीवन का मोल!

(७)

दिना बूम के लघु गुण निस्तार,
दिना बानू के जीवन बार

रौन दुर्बल है रे संसार,
हमी से क्या जमा बी' प्यार !

(८)

जाज का कुल बस का खाहसाव,
बीर कल का सुल जाज विषाद
समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूति जिसकी उस मार
जगत जीवन का अर्थ विकास
मृत्यु, गति कम का ह्रास !

(९)

हमारे काम न अपने काम
नही हम जो हम जात
बरे निज छाया में उपनाम
छिने हैं हम अपरूप

गैबामे जाए हैं जगज
बैबा कर पाते स्वीय स्वरूप !

(१०२४)

प्रार्थना

जप के चरैर आंगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो धनु धनु तप तप पर
हे धिर बभ्रव धिर गूढन !
बरसो कुसुमों में मधु बन
प्राणों में अमर प्रलय बन
स्मिति स्वप्न बहर पलकों में
सर धनों में सुख पीवन !
सू सू जप के मृत एव कम
कर दो तुम तप में बैठन
() - मुष्मूरन शीघ्र दो जप का
हे प्राणों का आलिंगन !
बरसो सुख बन सुकमा बन
बरसो जप जीवन के धन !
विधि विधि में श्री पल पल में
बरसो संसृति के सावन !

गीरव सन्ध्या में प्रशान्त
झूठा है सारा धाम प्राप्त।

५) पक्षों के बानुत अपरों पर सो गया निक्षिप्त वन का मर्मर
ज्यों बीणा के तारों में स्वर।

तप कूजन भी हो रहा नीम निर्जन गोपप अथ दूस्मि-हीन
भुमर भुजंग सा जिह्व क्षीण।

मीनुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा बीर
मगध्या प्रशान्ति को कर गभीर।

इस महाशान्ति का उर उवार, चिर आकाशा की तीव्र पार,
ज्यों बेश रही हो बार-बार। ✓

अथ तुमा सागध्य-स्वर्णमि नीन
सब वर्ण-वस्तु से विद्व हीन।

गंगा के जल-जल में निमल बुम्हला किरणों का रक्तोत्पल कमल
है मूढ बुका अपने मूड बल।

तहरो पर स्वर्ण-रंग सुन्दर पड़ गई नील ज्यों अपरों पर
अन्धार्ध प्रखर-निधिर से डर।

तन-निगारों से वह स्वप्न-विह्वल उड़ गया सोल निज पंग मुमग
किम गुहा-मीड में है किस मग।

मूड-मूड स्वप्नों से भर अन्धकार जब नील-नील कोमल-कोमल
छाया तब वन में तम द्यामल।

पश्चिम-मग में हूँ रहा देख
सुख-सुख अमन्य नमन एक।

अकम्प्य अमिन्ध नमन एक ध्वी मूर्तिमान व्योक्ति विवेक
उर में हो शीपित अमर टेक।

किन्तु स्वर्ग-काया का प्रसीप वह लिए हुए ? जिसके समीप :
मुक्तालोकिता व्यो रचत-सीप।

उसकी आत्मा का चिर-अस्त स्मिर अपकम्प-नयनों का चित्तन
क्या कोन रहा वह अपनापन ?

मैं हूँ दुर्लभ अपनापन समता यह निश्चित विश्व निर्जन
वह निष्कल इच्छा से निर्जन।

आकाशा का उच्छ्वसित रूप पुनः
मायता नहीं बन्धन विच्छेद।

र आकाशा से ही पर-पर, उच्छ्वित से अपनापन धामन
नाचती सहर पर हहर सहर।

बेच्छ-रुच्छ ही में नर्तन करते अनाम रहि रहि उदगम
दुस्तर आकाशा का बन्धन।

हु का बच्छे प्राण विच्छेद। क्या नीरव-नीरव नमन सुखसः
जीवन निष्कल से व्यर्थ विच्छेद।

प्राणीपन का अन्धकार, दुःसाह है इसका मूक-भार
इसके विषाद का है न पार।

फिर अविचल पर तारक अमन्य !
जागता नहीं वह छन्द-बन्ध !

धृति-वनम् का मुक्त मीन अपने असंग सुख में बिसीन
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन।

निष्कम-सिखा-सा वह निष्कम भेदता जगत-जीवन का तम
वह शुद्ध, प्रसुद्ध शुद्ध वह सम।

निष्ठ बुद्धि-सा निष्ठ अपार, मधुमय समता बन अघकार
हृत्का एकाकी व्यथा भार।

पयस-वपमय मन का जगिन लव गया कुम्भ कस्मियों से घन
वह आत्म-और वह जग-दर्शन।

शान्त स्तिम्भ ज्योत्स्ना प्रसन्न
 अपक्व वनस्त नीरव धू-तल !
 सैकल-सम्या पर दुग्ध-मण्डल तन्मयी मंगा प्रीष्म-विरल,
 खेटी है शान्त कलान्त निरवक ।
 तापस-शक्ता मंगा निर्मल स्रष्टि मूल से बीपित मृदु-कण्ठ
 कहें उद पर कोमल मृन्तक । विहरी
 पारे अंशों पर सिहर-सिहर, अक्षयता तार-तरल सुन्दर
 अंचल अंचल सा नीलाम्बर ।
 छाही की सिक्कन-सी मिछ पर, स्रष्टि की रेखमी बिना छे मर,
 छिमटी है वर्तुल मृदुल कहर । अनुरक्त
 चावनी रात का प्रथम प्रहर,
 हम बने नाव लेकर सत्वर ।
 सिक्का की सस्मिष्ठ-सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना छी बिबर
 लो पावें वहीं लठा अंगर ।
 मृदु मन्द-मन्द, मन्दर-मन्दर, अथु तरुणि हंसिनी-सी सुन्दर
 तिर रही जोल पालों के पर ।
 निरवक जल के धुधि वर्ण पर विम्बित हो रजत-मुक्ति निर्मर
 सुहरे ऊँचे लपटे क्षय मर ।
 आभाकीकर का राज-भरण सोया जल में निदिबन्ध प्रमल
 पलकों में बैभव स्वप्न सचन ।
 नीला से पल्लवी बल-हिकोर,
 हिल पड़ते लव के जोर-जोर ।

विभिन्न नयनों से निदधस कुछ छोड़ रहे बस तारक दस
ज्योतिष कर बल का बवंतस्त।

मिने सपु बीषों को बचस अबस की ओट किए बविरस
फिरती सहरे मुक-छिप पस पस।

छासने मुक की छवि ससमस वीरती परी-सी जल म का
रपहरे कृषों में हो ओमल।

धुरों के बूँद से मुक-मुक बचामी का छवि निज निर्यक मा,
दिसकाता मुग्धा सा रुक-रुक।

उसके पक्षों की बपसा बीष बाद,
छिप गया चाँदनी का कमार।

बाँहों से बुरस्य तीर पाय का हस कोमल धरीर
आत्मिगत करने को अपीर।

जति बुर विविध पर कटप माल सगती भू रेखा सी अराज,
अपसक नम नील नयन विद्याल

मा के उर पर सिगु-सा समीप साया बाद में एक होप
उत्तिभक्त से उत्तिभक्त प्रवाह को कर प्रतीप,

कह कीन बिहग ? क्या बिहस को उकता हरन निज बिरह सोक ?
छाया की कोली का बिलोक।

पठवार घुमा अब प्रपु मार टठ-ठ
भीरा भूमी बिपरीत धार।

बाँहों के बल करतल पमार भर भर मुस्ताप्य फेन-ग्यार,
बिरादानी जल में तार-हार।

बादी के सोंपों सी रहमक नाचती रबियाँ बल में बल
रेहामों सी बिच तरल-सरल।

सहरों की छतिकाओं में लिल सी सी शक्ति सी सी उड़ु जितमिक
फँसे फूले पल में फगिल।

बब उबका सरिता का प्रवाह, ^{छूट} लगीं ते ते-ते सहर बाह
हम बड़े बाट को सहोसाह।

ज्यों-ज्यों क्यती है नाच पार
उर में बाओकिठ सत बिचार।

इस बारा सा ही धम का धम सास्वत इस जीवन का उद्गम
सास्वत है यति सास्वत संगम।

सास्वत मन का नीला बिकास सास्वत सधि का यह रबत-हस
सास्वत लखु-सहरों का बिकास।

हे जड़-जीवन के कर्षवार। फिर जन्म-मरम के बार-बार
सास्वत जीवन-नीला-बिहार।

मैं भूक गया अस्तित्व ज्ञान जीवन का यह सास्वत प्रमाण
करता मुझको जमएक-बाल।

(१९१२)

पसरा ✓

निश्चित कल्पनामयि अगि अपसरि !
 अविद्य ब्रिस्मयाकार !
 शक्य असीमिक अमर, अगोचर
 नाशो की आभार !
 गुरु निरर्थ असंभव अस्पृष्ट
 वेदो की श्रुमार !
 मोहिनि ^{३५} कुहकिनि छल विघ्नभमयि
 विज विजिज अपार !

दीपाव की तुम परिचित सहचरि
 अग से फिर अमवान
 नव दिगु के संग छिप छिप रहती
 तुम भा का अनुमान
 डाल अँधुला दिगु ने मूँह म
 देती मधु स्तन दान
 छिपी अपक से उसे मुस्ताती
 या या नीरव मान !

अपरा के छाया पथ से आ
 दिगु डर में सबिलास
 अपरों के अस्पृष्ट मुकुता म
 रंगी स्वजिह हास
 २३ कपाओं से अवाय दिगु
 गुन विविध इतिहास
 नव अपनों में निरव गुम्हास
 रचने कपाभास !

संग्रहीत

प्रथम रूप मधिरा से सम्मिल
 जीवन में उद्दाम
 प्रीयसि के प्रत्येक अंग से
 लिपटी तुम मधिराम
 मुकती के उर में उद्दाम बग,
 हरती मम प्रतिमाम
 मुकुल पुष्प मुकुलों से सब कर
 देह लता छवि बाम !
 हृदयकोक में पुष्प मूल्य तुम
 करती कपु पर भार
 तमिष् चकित चितवन से चंचल
 कर मुर समा अपार !
 मम देह पर नव रस सुरभंगु
 छायापट मुकुमार,
 कौल भील नम की बेसी में
 हनु कुल सुति स्फार !

स्वयंवा में जल बिहार तुम
 करती बाहु मृषाक !
 पकड़ लीं हनु विम्व के
 लल लल रजत मराल !
 उड़ उड़ नम में सुभ फेन कल
 बन जाते उड़ु-बाल
 सजक देह सुति जल लहरों में
 बिम्बित सरसिज माक !

रवि छवि चुम्बित जल जलरों पर
 तुम नम म उल पार,

सगा बंक से तड़ित भीत राशि—

भृगु सिधु को सुकुमार,

छोड़ गमन में नैपथ्य उडगन

परम चित्त सधु भार,
भागवत नत ईश्वरनुप पुरु
करती हो नित पार!

कभी स्वर्ग की भी तुम अप्सरि,

अब वसुधा की वाढ

जम के क्षय के विस्मय से

अपकृ पक प्रकाश। १०६

वाढ युवतियों की सुखी में

बुमा मगोज मरुत

विचछाती भुव रोम हास तुम

चितवन कछा अउल। १०७

तुम्हें छोड़ते छाया बन में

अब भी वशि विस्मात

जब जग जम निधि प्रहरी जुगनु

सो जाते बिर प्रात

सिहर झहर, मर्मर कर तस्वर,

तपक तड़ित अशात

अब भी बुपके इंगित देते

गूंज मधुप कवि आत!

मौर-म्याम तन बीठ प्रया-तम

मपिनी आत सवान। १०८

बुने मुगुल मगुन छायावल

तुम्हें तन्नि ! दिन रात

स्वर्ण धूज से रजत हिमोरे
 कंधु काकरी प्राप्त
 मुरंग रेसमी पंख तितलियाँ
 दुना ^{१५} सिरसी गात ।

पुद्गिन विन्दु में हंनु रसिम सी
 छोई तुम बुपचाप
 मुकुल दयन में स्वप्न देखती
 निद्र निद्रपम छवि आप
 बटुक कहुरियों से बस बुम्बित
 मकम मृदुल पद आप
 बज्रों में निहित मधुपों से
 करती भीनासाप ।

मीन रेसमी तम का कोमल
 लोल लोल कबमार,
 तार तरक महल कहुराजस
 स्वप्न-विकल स्तन हार
 पधिकर सी कंधु पद सरसी में
 करती तुम अभिघात
 दुग्ध फेन सारस ज्योत्स्ना में
 ज्योत्स्ना सी मुकुमार ।

मैहरी घुत मुहु करताल छवि से
 कुमुमिह गुमय सिंगार,
 गौर रेह चुधि हिम छिन्नों पर
 बरस छी सामार
 पद सातिमा उपा पुकड़ित
 पवि-सिमल पन सोधार,

उड़ु कपन मुहु मुहु उर स्पर्शन
 चपल बीचि पर चार ।
 घट भावों के विकच दलों से
 मंडित एक प्रमात
 लिली प्रथम सौंदर्य पद्य सी
 तुम जग मे मबजात
 मृगों-से अमणित रवि छाधि ग्रह
 मूँच उठे अज्ञात
 जगज्जलपि हिस्कोल बिलोदित
 गंध अंध बिधि बात ।

वसनी के अनिमिष पलकों पर
 स्वप्न स्वप्न समान
 उन्नि हुई थी तुम अनत
 यौवन में चिर अम्कान
 बंचत अंचल में फहरा कर
 माही स्वर्ण विज्ञान
 स्मिन्न आनन पर नभ प्रकाश से
 दीपित नभ दिनमान ।

छवि । ३ मानस के स्वर्ग वास म
 चिर मुख में आभीन
 वपनी ही मुग्ध में अनुपम
 इच्छा में स्वार्थीन
 प्रति युग में जाती हो रंगिनि ।
 रच रच रूप नवीन
 तुम मुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्परि ।
 निमुचन घर में सीन ।

अंय अंय अमिगव सोमा का
 नव वसत मुकुमार,
 मुकुटि संय नव नव इच्छा क
 मूर्तों का पुंजार
 पत सत मधु आकाशायों से
 स्पंदित पूषु सर भार,
 नव शाखा के मुहु मुकुर्कों से
 बुधित उधु पदचार ।

निखिळ निख ने निख गौरव
 महिमा मुखमा कर शान
 निख अपछर उर के स्वर्णों से
 प्रतिमा कर निर्माण
 पल पल का बिस्मय दिशि बिधि की
 प्रतिमा कर परिधान
 तुम्हें कल्पना जी' रहस्य में
 छिपा विद्या अमजान !
 अथ के मुख मुख पाप पाप
 वृत्ता ज्वाला से हीन
 अथ अगम मय मरध क्षुब्ध
 जीवनमयि निरयनहीन
 अतल निख सोमा वारिधि में
 मग्निता जीवन मीन
 तुम अक्षुब्ध अक्षुब्ध अक्षरी
 निख मुख में तल्लीन ।

(कलसी १९३२)

यथास्थिति नै ओर नद गहरे
महासहस्रवती विचारधारा से प्रभावित।

तुम सरो जगत के जीर्ण पत्र।
हम सस्त-ध्वस्त। हे शुष्क-जीर्ण।
हम ताप पीत मधु-भात भीत
तुम हीत धम, जड़ पुराचीन!!

निष्पाण विपत-युग! मृत बिरुप।
जग-मीढ़ सुख भी दबास-हीन
ज्युत ध्वस्त-ध्वस्त पंखों-से तुम
भर भर अनन्त में हो विछीन।

कंकाठ बाल जय में फँसे
फिर तबल बधिर, पस्कव साजी।
प्राची की मर्मर से मुसुरित
पीवन की मांसल हरियाली।

मंजरित विश्व में जीवन के
जग कर जग का पिक मतवाली
निज जमर प्रणय स्वर मरिच से
भर है फिर मधु युग की प्याली।

सावरभी
अन्य
(पृष्ठ १४)

गा, कोकिल

पा कोकिल बरसा पावक कण !
नष्ट भ्रष्ट हो पीर पुरातन
ध्वंस भ्रंस धग के बड़ बंगन !
पावक पम भर आए नूतन
हो पस्तबित नवल मानवपन !

पा कोकिल भर स्वर में कंजन !
मरें जाति कुछ वर्ष पर्य बन
अब नीड़-से बड़ि ऐति कन
अस्ति पट्ट रत राम द्वेष रन
छरें मरें विस्मृति में तत्तन !

पा कोकिल गा—कर मठ विस्तन !
नवल खरि से भर पस्तन कन
नवल स्नेह शीरम से मोहन
कर मंजरित मध्य जय जीवन
गूँन कठें पी पी मधु सब बन !

पा कोकिल नव गान कर सुखन !
रन मानव के हित नूतन मन
बानी बेश भाव नव सोभन
स्नेह पुष्पता हो मानस बन
करे मनुज नव जीवन साधन !

गा, कोकिल सन्देश सनातन !
मानव दिव्य स्फूर्तिग चिरंतन
बह न देह का मण्डर रज कण !
देष काल हैं उसे न बंधन
मामव का परिचय मामवपन !
कोकिल या मुकुलित हों बिधि दण !

सृष्टि

मिट्टी का महारा बन्धकार,
दूबा है उसमें एक बीज—
वह जो न गया मिट्टी न बना
कोशों घरों से सुदूर बीज!

उस छोटे घर में छिने हुए
हैं आस-पास जी स्तब्ध-मूल
माही हरीतिमा की संसृति
बहु कम-रंग फल बीर फूल।

वह है मुट्ठी में बन्ध किए
बट के पादप का महाकार,
सत्तार एक। आश्चर्य एक!
वह एक बूँद सागर अपार।

बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जल के बन्धन—
पाने को है निज सत्त्व—मुक्ति।
जड़ मित्रा से जल बन चेतन।

आ जेह न सचा तुमन रहस्य
कोई थी। वह जो सुदूर पोत
उसमें अनन्त का है निवास
वह जल जीवन से जोत प्रोत।

मिट्टी का गहरा मन्त्रकार
सोया है उसमें एक बीज —
उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह बमर पुनः वह तुच्छ बीज ?

मानव

सुन्दर हैं विह्वल सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम
निर्मित सबकी सिद्ध-सुपमा से
तुम निखिल सृष्टि में फिर निरुपम !
जीवन ज्वाला से बेचिष्ठ तम
मृदु त्वण सीम्बर प्ररोह जग
म्योकावर जिन पर निखिल प्रकृति
छाया प्रकाश के रूप-रंग ।

बाजित कुल नील सिरुओं में
मन्दिर से माधक दधिर बार,
जहाँ हैं दो छावप्य-सोक
स्वर में निरुप-संगीत-सार ।
पृथु उर, उरोज ज्यों सर, सरोज
दृढ़ बाहु प्रसन्न प्रेम-बन्धन
पीनोद स्कन्ध जीवन-उद के
कर, पर जगुलि नल-सिद्ध धीमन ।

जीवन की मांसक स्वस्व यन्त्र
नम मुष्मों का जीवनोत्सर्ग ।
माझाव बसित सीम्बर क्षत्रिज,
जा प्रथम-प्रेम का मधुर स्वर्य ।
आशाभिन्नाय उज्वालोता
उद्यम बल्लविष्मों पर प्रथ
विरहास लस-सप् या विवेक
दृढ़ मठा सत्य-प्रेम बल्लय ।

शतरी मूर्तियाँ ये अमन्य
 शूरसूता त्याग सहानुभूति
 जो स्वप्न सम्यक्ता के पाणिब
 वंदति स्वर्गीय—स्वभाव-भूति !

मानव का मानव पर प्रत्यय,
 परिचय, मानवता का विकास,
 विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण,
 सब एक एक सब में प्रकाश !
 प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
 उपयोग करो प्रतिक्षण नव-नव
 क्या कभी तुम्हें है विभुवन में
 यदि बने रह सको तुम मानव !

हाथ ! मृत्यु का ऐसा जबर, अपावित्र पूजन,
 अथ विपन्न, निर्भीक पड़ा हो जग का जीवन !
 स्थिति-सीध में हो मृगार मरण का सोमन
 नभ क्षयातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन !
 मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति !
 आत्मा का अपमान प्रेत जी' छाया से रहि ! !
 प्रेम-वर्चना यही करें हम मरण को मरण ?
 स्थापित कर कंठास अरे जीवन का प्रायश्च ?
 सब को हैं हम कम रंग सादन मानव का ?
 मानव को हम कृत्रिम चित्र बना हैं सब का ?
 युग युग के मृत जाइलों के ताम मनोहर
 मानव के मोहान्व हृदय में किए हुए घर !
 भूल गए हम जीवन का सन्देश जनस्वर
 मृतकों के है मृतक जीवितों का है इतर ?

(बम्बूबर १५)

रो सड़के

मेरे जीवन में (टीले पर है मेरा घर)
 वो छटे-स सड़के का बाते है बकसर।
 मय उन मयबबे सबले, सहज सबीले,
 पिट्टी के मटयैले पुतले—पर, पृथिलि।
 बस्ती से टीले के नीचे उपर, उतर कर
 वे चुन से जाते कूड़े से निषिपा सुन्दर—
 मिषरेट के खाली बिम्बे पभी बमकीली
 धीनों के टुकड़ तस्वीरें नीली पीली
 मामिक पत्रों के कब्रों की बी' बन्दर से
 छिन्नकारी भरते हैं खुल हो-हो अन्दर से।
 दीड़ पार जीवन के फिर हो जाते जोसल
 वे नाते छ सात साल के सड़के मांसल।
 सुन्दर छगती मय वह मोहती नयन-मन
 मानव के माते उर में भरता अपनापन।
 मानव के बालव हैं वे पासी के बन्ध
 रोम रोम मानव सधि में बाले सन्धे।
 बन्ध-मांस के इन जीवों का ही यह जग घर,
 बान्धा बाजबिबासमयह—बहुमूढम अनरवर।
 म्याछावर है आत्मा मन्वर रक्त मांस पर
 जग का बहिरारी है यह जो है दुर्बलतर।
 बलि बाड़ उस्का संसा भी जीपन भू-पर
 ईमे रह मरता है नोमस मनुष बरेवर।
 निप्युर है जड़ ग्रहनि गहज भंगुर जीविन जग
 मानव को चाहिए यहाँ मनुजीवित मायन।
 क्यों न एक हा मानव मानव सभी पारपर
 मानवता निर्माण करें जग में सारातर?

जीवन का प्रासाद छठे मू-पर भीरवमम
 मानव का साम्राज्य बने—मानव हित निश्चय।
 जीवन की खण-बुद्धि रह सके जहाँ सुरक्षित
 रक्त मांस की हज्जाएँ जन की हों पूरित।
 मनुष्य प्रेम से जहाँ रह सके—मानव ईश्वर।
 भीर कौन सा स्वर्न चाहिए तुझे जय पर?

(१९३८)

१ नीम

सर सर मर मर
 रेशम के-से स्वर मर,
 बने नीम वल
 कम्मे पतले बचल
 स्वसन स्पर्श से
 रोम हर्ष से
 हिल हिल उठे प्रति पल !
 बूझ सिखर से मू-मर
 घट घट मिथित ध्वनि कर
 फूट पड़ा सो निर्भर,
 मरत—कम्प भर !
 मूम मूम झुक झुक कर,
 नीम नीम तब निर्भर
 सिहर सिहर बर बर बर
 करछा सर मर
 बर मर !
 स्निग्ध पुत गए निखिल वल
 हरित गुरुज में ओसल
 बापु बेप से अबरल
 धानु-पत्र-से बज कल !
 पिसरु मियक सांसें भर,
 भीत पीत हृत् निर्बल
 नीम वल सकल
 मर मर पड़ने पल पल !

बापू

किन दलों से यह जाओगे तुम सभी मानव को ?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को ?
सत्य बहिष्ता से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जाएगा जग जीवन ?
आत्मा की महिमा से मज्जित होगी नव मानवता ?
प्रेम छवि से चिर निरमल हो जाएगी पाषण्डता ?

बापू ! तुमने मनु आत्मा का तेषदक्षि आह्वान
ईस उठते हैं रोम हर्ष से पुनर्जित होते प्राण !
मृत्युदर उस बरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान
अही आत्म-वर्धन अनादि से समासीन अम्भान !
नही जानना युग विवर्त में होगा कितना कम समय
पर, मनुष्य को साथ बहिष्ता दृष्ट रङ्गेने निश्चय !
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य !

(१९५८)

सु उपकरण

ए भीति संगीत भीम हो जिसमें जग जीवन संघर्ष
 ए भार्य मनुष्य स्वभाव हो जिसका दोष-दुःख निष्कर्ष !
 ए कष्टशील्य सहन कर सके बाह्य वैश्व विरोध
 शीघ्र बनईरा, न मृदा का करे मृदा स ओ परिधोष !

मम स्थिति यह, जो सहिष्णु हो निर्बल को बल करे प्रदान
 मर्न प्रेम मानव मानव हों जिसके लिए अमिष समान
 यह पवित्रता जगती के कक्षों से जा न रहे संमल
 यह गुण, जो सर्वत्र सभी के सुख के लिये रहे संमल !

ममि कला कृतिस्त कृष्ण जग का जो रूप करे निर्माण
 यह रमन-विज्ञान मनुष्यता का हो जिससे चिर कल्याण !
 यह संसृति मम मानवता का जिसमें चिरसित मध्य स्वल्प
 यह निवास मुमुक्षु ममसागर में जो चिर ज्योति स्मर !

ऐति भीति जो निरव प्रगति में बनें नहीं जड़ बंधन पाछ
 ऐसे उपकरणों से हो भू मानवता का पूर्ण विकास !

(१११८)

कप सत्य

मुझे कप ही माता !
 प्राण ! कप ही मेरे सर में
 मकुर भाव बन जाता !
 मुझे रूप ही माता !

जीवन का फिर सत्य
 नहीं दे सका मुझे परिछोप
 मुझे ज्ञान से वस्तु भुझाती
 सूडम बीच से कोप !

सच है जीवन के वस्तु में
 रहता है फलसार
 बर्षे पंचमय कछि कुमुमों का
 पर, ऐश्वर्य बपार !

राशि राशि चीन्मर्य प्रेम
 मानव बुधो का द्वार
 मुझे सुमाता रूप रंग
 रिसाओं का संसार !

मुझे कप ही माता !
 प्राण ! कप का सत्य
 रूप के भीतर नहीं समाता !
 मुझे कप ही माता !

(१९९८)

स्मृत के प्रति

यह वहीं मानव जग को यह भर्मांगक उत्साह
ये हि तुम्हारी बात बात पर करता सहज विकास !
बाद प्रथम ज्वाला में क्यों मल पए विद्वत् के पाद
येन की हिम्मतोत्त सोल समझी धूने आकाश !
बादलार्थ बलिष्ठ बबलि की हुई पूर्ण उन्मुक्त
यह रत्नोद्भव तेज धरा के जीवन के उपयुक्त !
उद्भव के जीवन विकास में तुम्हा नवीन प्रभात
दर्शों का हस्ताधिकार हो उठा ज्योति अवदात !

नव जीवन का धिरे धिराओं में कर बहम पकाय
दृष्य तव जग से मानव जग में तुमने मरा प्रकाश !
यह सोभा यह शक्ति दीप्ति यह जीवन की उद्दाम
मरती मन में ओज दूरों को लगाती प्रिय अभिराम !
जीवन की आकांक्षाओं का यह सौम्य अमंद
मानव भी उपभोग कर सके मुक्त, स्वस्थ आनंद !

बाप्री

बाणी बाणी
जीवन की बाणी हो मुझको मास्पर !
मीन गमन को पेद
बोक्ते बिस बाणी में उड़ुपर,
बिसमें नीरव मिरि से निभूत
होने मुखलि मिर्हर !

बिस बाबी मे मेव गरजठे
 कहरा छल्ले सागर,
 बिसमें निव धामिनी बमकली
 मोर नाचते सुन्दर !

बाणी बाणी
मुझे वस्तु बाणी ही पूर्ण चिरंतन ।
त्रिषु बाणी मे हू मत्स्यानिम
पुरुषों से भया उन
त्रिषुमें मुहु मुह कुमुद बोधते
अथ अथ करि नर्तन !

जिस बाभी में खुदा वृषा
की काम बीजत करते तब
जिसमें दण्डन कुछ कुछ उठते
जाते पैशन मोशन !

बायी बायी
मुझे सृष्टि की बायी हो अभिमुख।

दो घु बर्ष मम रूपों में
 रखी सृजन निरंतर
 कि बाणी में अनुभव करते
 तुम्हें निश्चिन्त चरचर।

जो बाणी फिर धन्य मरण,
 तम जी' प्रकाश से है पर,
 जो बाणी जीवन की जीवन
 शास्त्र, सुन्दर, जसर।
 बाणी बाणी
 मुझको दो घट घट की बाणी के स्वर।

(११८)

ग्राम कवि

यहाँ न पम्पक बन में मर्मर,
यहाँ न मनु बिहगों में गुंजन
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृष्य का रोदन।

यहाँ नहीं छव्यों में खँपटी
बापछों की प्रतिमा जीवित
यहाँ व्यर्थ है बिज गीत में
सुन्दरता को करना संचित।

यहाँ बरग का मुँह कुचप है
कुत्सित गहिर बन का जीवन
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
वहाँ उदर हो शुम्भ नम्र ठन?—

वहाँ हैम्य बज्रर असंख्य बन
पशु-वचन्य शब्द कण्ठ यापन
कीड़ों-से रेंगते मनुष्य पिष्ट,
वहाँ अकाळ बुद्ध है जीवन।

मुक्तम वहाँ रे कवि को जय में
युग का नहीं छल्य पिब सुन्दर,
कँप कँप उठी पसके उर की
व्यथा विमूर्छित बीया के स्वर।

(१९४०)

भाँसों ही में भूमा करता
 वह ससकी भाँसों का तारा
 कारकुनों की काठी से जो
 पया जवागी ही में मार।
 बिका दिया घर द्वार,
 महाजन ने न म्याज की कौड़ी ठाड़ी
 रूख रूख भाँसों में बुमती वह
 कुर्क हुई बरबों की जोड़ी।

उधरी उसके सिवा फिसे कब
 पाप धुलाने जाने बेती ?
 वह भाँसों में नाचा करती
 उमड़ गई जो सुख की बेती।
 बिना दवा दर्पण के गृहिणी
 स्वरण बली बाँधे जाती मर,
 रेख रेख के बिना कुचमुड़ी
 बिटिया जो दिन बाद गई मर।

घर में बिचका रही पताहू
 कछमी की बछसि पति बाठिन
 पकड़ मैनाया कोठवाल ने
 दूब कुएँ में मरी एक दिन।
 बीर, वीर की धूरी ओर
 एक न सही दूसरी जाती
 घर जवाग लड़के की सुख कर
 साँप लोटते फटती जाती।

पिछले सुन की स्मृति भाँसों में
 धन घर एक जमक है काती

गुप्त दुन्य में यह वह चितवन,
तीन्नी गोंक सदृश बन जाती।
धन की बेतना न ममता
एही सब बाँधों में उस अन्ध,
हं साध, अपमान स्थानि
दुग दैत्य न जीवन का आकर्षण !

उस अन्धबेतन लज न मानो
के पुत्र करती अबलोकन
ज्योति तमस के परधों पर
युग जीवन के पट का परिवर्तन।
अंधकार की अतल गुहा सी
अह उन बाँधों स डरना मत
वर्ग सम्पत्ता के मंदिर के
निबले उस की के बानामन।

भारत माता

भारत माता

ग्राम वासिनी ।

बेतों में फैला दूध क्यामल
लस्य सरा जगजीवन बाँध
पया यमुना में क्षुधि धम जल
सील मूर्ति

सुख सुख उवासिनी ।

स्वप्न भीम प्रभु पद नर चितवन
बोठों पर हँसते कुल के लज
संयम उप का बरछी सा मन
स्वर्ग करता

मू पव प्रवासिनी ।

तीस कोटि पुत अर्ध लज लज
अल वस्त्र पीड़ित अनपढ़ जन
छाड़ फूँव चर के चर जगिन
प्रकट सीस

तस्तक निवासिनी ।

विरह प्रगति से निपट अपरिचित
अर्ध सम्य जीवन बधि सस्कृत
कृति पीतियों से गति कुठित
राहु बगित

घरदेम्पु हासिनी ।

सदियों का खंडहर, निष्क्रिय मन
 सकय हीन, जर्जर जन जीवन,
 कैसे हो भू-रचना मूल्य,
 ज्ञान मुझ
 गीता प्रकाशिनी ।

संस्पीकृत रत बिम्ब शांति घट,
 दूध दूध से बूह आंगन धीहृत
 पर हमें जन उद्यत जाग्रत ?
 तोष मज्ज
 जीवन बिकाशिनी !

उस चाहिए लीह संगठन
 मुन्दर तन मरदा वीपित मन
 मर जीवन प्रति अथक समर्पण
 लोफ कलामयि
 रस बिकाशिनी ।

कहूँ का खूब नृत्य

रंग रंग के चीरों से भर भंग चीरबासा-से
 रीत्य सूर्य में अप्रतिहत जीवन की व्यक्तिकापा से
 बटा बटा सिर पर, धीवन की झगु छटा आगन पर,
 छोटी बड़ी तूँबियाँ रंग रंग की मुरियाँ सब तन पर,
 हलस नृत्य करते तुम अटपट बर पट्ट पब उन्मुक्त
 आलोपा से समुन्मुखित जन मन का हिला बरातक।

छवक रहे अवयव आवेस-विवस भूषार्थ बंकि
 प्रसर सावसा की ज्वालाओं सी अंशुमियाँ कपित
 अन्ध बैरा के तुम प्रगाढ़ वीरमास्त्रास-से निर्मर
 मईमार उद्दाम कामना के-से झुसे मनोहर।
 एक हाव में लाख झमक बर, एक सिवा की कटि पर
 नृत्य तरंगित खूब पूर-से तुम जन मन के मुक्तकर।

बाधा के उन्मत्त जोप से जामन स्वर से कपित
 जन इच्छा का माड़ बिज कर हृदय पटल पर बंकि
 शोक पए संसार भया तुम मेरे मन में लज भर,
 जन संस्कृति का सिम्ब स्फीत चीन्चर्म स्वप्न दिखना कर।
 बूग बूम के छस्यामासी से पीड़ित भेद्य अंतर
 जन मानव यौवन पर विस्मित मैं भावी चिन्तन पर।

(१९९९)

नाड़ी से

पूरा निशा का प्रथम प्रहर सिङ्की से बाहर
दूर स्थिति तक स्तम्भ आग्न बन सोया लज भर
दिन का भय होता पूना मे तुम तरुओं पर
बाँधी मड़ ही है धू को स्वप्नों से षड कर।
बाह बन्धिकातप से पुलकित निमित्त धरातल
बमक रहा है ज्यों जल में विम्बित जग उम्बक।

गज हीरने सिङ्की की जाली में विजडित
व्यक्त लीची आम-मूक मेंदूर से कपित
धनक भी होते के लम्बे बमिया के पय
बापी जगत कुपे की कुरिया की छाजन दलप
बगनाक का भाग मेहराबों, दरवाजे
रुद्रिक सवस जो बमक रहे जूने से ताजे।
भी टेढ़ी-मेढ़ी दिव्यत रैला के ऊपर
पान पान हो पेड़ ताड़ के लड़े मनोहर।

बापी सिङ्की पर जगमित ताराओं स न्मित
हृदि धरा के ऊपर नीलाबर छायावित
कषणबिया (कृतिता) मामन दोमित मुदर
माली क मुकठ भी भरपी ज्यों निबोध कर।
पान रोहिणी प्रिय मिष्टानानुर, बाँह गाल कर
मेंदूर की बेंदी द जुझा को गोदी भर।
नय दृष्टि कुर्या ममीप ही छोड़ रहा गर
भादि बाल से मृग पर मृगदिर लहर मनाहर।

उपर लड़े पुगलज नाम-मे गुरु भीर मगन
माय-माय जिनमे बबरज गुरु सबम उम्बक।

हस्ता है प्रत्यक्ष कठिन वृत्तिक का मिथ्या
 वह क्षायक आश्रय कहता हिमजल का हिमना !
 ज्योति फेन की स्वर्णमा नभ बीच तरंगित
 परियों की माया सरसी की छायाकोकिल
 स्थिति पृथ्वी ताराओं के आर्षों से समित
 मीनम के नभ में रत्नप्रम पुरुष की निर्मित !

कोन रहा हूँ कहीं उचित सप्तपि नगन में
 गरजती को भिन्न साव विस्मित से मन में !
 प्रान्त विह्वल-से जो अनादि से नभ पर अक्षित
 उत्तर में स्थित ध्रुव की ओर किसे चिर इषित
 धुल रहे हो संसृति का रहस्य ज्यों अभिहित
 क्या है वह ध्रुव सत्य ? गहन नभ जिससे ज्योतिर !

ज्योत्स्ना में विवर्तित सङ्कलन भू पर अंबर
 क्षमित ज्यो मावध्य स्वप्न अपक्व नयनों पर !
 वह प्रतिदिन का वृक्ष नहीं छत्र से आतावन
 आत्र झुक गया अप्सरियों के जल में मोहन !
 चिर परिचित माया बल से बन गए अपरिचित
 निष्प्रिय वास्तविक जगत कल्पना से ज्यों विवर्तित !
 नाम अनुबद्धा कृपता जग से ओझल
 सब कुछ गूँघर ही गूँघर, उज्ज्वल ही उज्ज्वल !

एक दक्षिण से कहते जल प्रपंच यह विवर्तित
 एक ज्योति कर से समस्त जड़ चतुर्ध निर्मित
 सब है यह आलोक पाछ में बँधे चरचर
 आत्र आदि कारण की ओर लीनते अंतर !

बीहतर

घट्ठ बाल्य-पर मूक मूत खय हुए समन्वित
 वृक्ष तद से ताराणि सत्य है एक अक्षरित,
 मानव ही क्यों हम असीम समता से वर्णित ?
 ज्योति भीत युग युग से तमस विमूढ़, विनाशित ।

(१९४०)

संस्कृति का प्रश्न

राजनीति का प्रश्न नहीं है आज जगत् के सम्मुख
बर्ष धाम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुःख !
स्पर्ध सफल इतिहासों विज्ञानों का सागर में बल
वही नहीं युग सन्धी जीवन सुखा इन्दु जल मोहन !
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जल के निकट उपस्थित
सब मनुष्यता को युग युग की होना है नव निर्मित
विश्व का विषय बर्षों घण्टों को होना सहज समझित
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित !

जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्धित
मानव का व्यवहार बन हो गया आज परिवर्तित
बाह्य चेतनाओं में उसके अन्तर्गत सत्पीडन
विषय सम्मता बन्ध-शुभ्य फलन ही कष्टी युग नर्तन !
स्पर्ध आज राष्ट्रीय का विश्व की लोपों का गर्जन
रोक न सकते जीवन की बलि दत्त विनाश आयोग !
नव प्रकाश में तमस युगों का होया स्वयं निमज्जित
प्रतिस्पर्धाएँ विगत युगों की होगी सन- पराजित !

(१९४)

विद्या ज्ञान बहु सुखम, सुखम बहु नीति धर्म
 संस्त कर सके जन, इच्छा अनुसूय कर्म !
 इच्छेन मन पर विजय पा सके चेतन मन
 जन को दो यह शक्ति पूर्ण जय के कारण !
 मनुष्यों की सपु चेतना मिटे, सब अहंकार,
 नव युव के गुण से विगत युवों का संघकार
 हो पात जाति विरोध धर्म नष्ट रक्त समद,
 हो पात युवों के प्रथ मुक्त मानव अन्तर !
 संसृज हों सब जन स्नेही हों सहृदय सुखद,
 संयुक्त कर्म पर विरज एकता हो निर्मल
 राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें देशों से देश आज
 मानव से मानव, हो जीवन का निर्माण काव !
 हो वर्धन जनों की जगत स्वर्ग जीवन का पर,
 नव मानव को दो प्रभु ! नव मानवता का वर !

सम्मोहन

बादू बिछा दिया जल धू पर !

तुमने सोने की फिरफों की

जीवन हरियाली जो जो कर !

फूलों से उड़ फूल रँगों से

निखर सूक्ष्म रँग उर के भीतर

बुनते स्वप्न भबुर सम्मोहन

स्वर्ण बहिर से अंतर बद् बद् !

स्पर्शित आत्र हृदय नभ कण में

माया बनी द्रुओं की मर्मर,

छहरे उर पर बेटी साँस

कमल मुक्तों से प्रीति-से सर

प्रणय दृष्टि ही मुख्य बुगों को

प्राणों में समीत दिया भर,

स्वर्ण कामना का नव बूँद

शाल बरा के मुक्त पर सुंदर !

निज जीवन का बद् संघर्षण

मूल गया जब मानव अंतर

जब जीवन के नव स्वप्नों की

ज्योति दृष्टि में अमर स्नान कर !

स्वर्ण जाल में तुमने जीवन

किपटा लिमा हृदय में हँसकर,

मर्म प्रीति का सरला बहिरक्त

इस प्राणों में स्वर्णिम मिर्जर !

स्वर्ण बरा को साँस पाया में

स्पर्श जलना के बिर सुलकर

स्वप्नों को तुमने जीवन की

देही दे ही मर्त्य शोक हर !

मानदंड मू के जलंड है
 पुण्य धरा के स्वर्गारोहण
 प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमवर्ण-से
 मेरे मेरे जीवन के क्षण ।
 मुझ अंचलबासी को तुमने
 सौभाग्य में बाँधी ही पावन
 नम में मयना को जो तब से
 स्वप्नों का अभिलाषी जीवन ।

जब मे छप्पों के शिखरों में
 गुंने बाहना करना चित्रित
 पद्म पानि में समाविष्ट है
 मानस सुंदरता के मूमूत ।
 शून्य केतना मेरी तुम में
 शक्तिमान जानव तरंगित
 गुंने देन सीम्बर्य माधमा
 पराङ्मुख से मरी विस्मित ।

जिन शिखरों को स्वर्ण चिरण नित
 प्योति मुकुट से करती मंडित
 जिन पर सहसा स्तम्भित ठडित
 हो उठती निज आलोक स चकित ।
 जिन शिखरों पर रजत पूषिमा
 मिथु पवार सी लगनी स्तम्भित
 जिनकी वीरवना में मेरे
 पीत स्वप्न रहते थे संरत ।

जिनकी शीतल श्वासा में जल
 बनी चेतना मेरी निर्मल,
 प्राण हुए आलोकित जिनके
 स्वर्गोन्नत सीमार्ग से सजल !
 हृदय बाह्य काव्य कस्यमा को
 छिरीट पहनाता उज्ज्वल
 स्मृति में श्वाति तरुित स्वयिक
 मृगों के आलोक का तरक !

बमुखा की महाकाशा-से
 स्वर्ग सिखिल से भी उठ ऊपर
 अंतर आलोकित-से स्थित तुम
 अमरों का उस्कास पाग कर !
 उरोधार से गौर बरसि के
 सोया स्वर्ग क्षीण बर जिस पर
 तुम मारु के धारवत मीरव
 प्रहरी से आगरित निरंतर !

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर
 हो उठती आलोक मिनाशित
 जिस पर ऊया संघ्ना की छवि
 बाहि सृष्टि सी ही स्वर्गांकित
 इन्नु ज्वलित तुम स्थणिक बलसिमा
 के क्षीरोदधि से हिम्सोन्नित
 व्योम्ना में वे स्वप्न मीन
 अप्सरा लोक से ललते मोहित !

सुरंग प्रवालों की रत्नमयी
 झरह रहती जहाँ मर्मरित
 वेवसाव की चार सुधि से
 भरकत लक्ष्मटियाँ रोमांचित
 भीम स्वर्ग मुल पर अस्ति तुम
 सुधि विभक्त स्मिति से चिर शोभित
 आदि तत्त्व-से अपनी ही शोभा
 बिलोक रहते अनिमेषित !

मौली छापाई थी तन पर
 लम्पटी आमा की-सी सिन्दूरम
 इन्द्रधनुष मंडल छ दीपित
 बढ़ते थे दाठ हंसमुग हिमकण !
 स्वर्णों के पंखों से म्मिठ
 ठडिक् चकित हिम के रोमिल धम
 रंभों से वेष्टित रतते थे
 लमको हे आलोक निरंजन !

प्रति चम्पार आली थी मधुशु
 मद्य स्फुट बेही से कुमुदित
 भीर रस्मियों को पृथ्वी के
 अगों पर निज कर दाठ रजित !
 गुलामी पक्षियों की बबून
 सीरम दवाओं से थी राग्नि
 मेरे दीगव को मित उमकी
 गीत बोबिला राखी वृमि !

कमलस्य स्वप्नातप सुरभुज पट
 ससिमुख हिम स्मिति गात्र से श्वसित
 पञ्चानु करती थी परिक्रमा
 बप्सरियों सी सुरपति प्रेरित !
 धरत बहिका हो जाती थी
 स्वप्नों के शृंगों पर विवर्धित
 हिम की पत्तियों का बंधन उड़
 मू को कर केता वा परिवृत्त ।

रम रम के चिन्तित पत्नी
 छवते नम में भीत तटस्थित
 भील पीत शृंगों का पुंजन
 मौन लणों को रक्तता मुखस्थित
 अम्मा का सूर्याक्ष सुम में
 लबटा क्षीतस्मृता सा मूर्ति
 ईश्वरपुत्र पुत्र पर वर्षा में
 सुरवासाएँ वा जाती नित ।

जग प्रच्छाय मुहावों में नम
 बापों के पत्र धरते वर्जन
 बंधन विधुत् केसाएँ भी
 लिपट शृंगों से जाती तत्क्षण
 टाउनों के साथ सहज
 सैद्य स्वप्नों से भर जाता मन
 बट्टे के शुभ अंतर में
 शीतल स्वप्न शृंगों पर मोहल ।
 बयासी

मेघों की छाया के सँग-सँग
 ह्रास पाटियाँ बसतीं प्रतिक्षण
 बन के भीतर उड़ता बंधल
 बिज तिलकियों का कुसुमित बन ।
 रँग-रँग के छपलों पर रश्मि
 उलस उलस करते कल मायन
 सरनों के स्वर जम-से जाते
 रजत हिमानी धूपों में धन ।

मीम बिमल तिलामों का वह
 भीन हृदय में अब तक अंकित
 फेनों के जल स्तंभों-से है
 निर्भर रमस बेग से मुग्धचित
 पीड़ों के तह बन का तम
 माँ में भरना मन में आबोछित
 हरियों की गहरी छायाएँ
 व्योम्निर्गमनों से भी गुफित ।

माते दर में शिघ्र झोत
 लहराते सर तुषार के निर्मल
 धीरज की मुञ्जित अलङ्का ऐ
 छू समीर दर बरता दीतल
 भीसी पीसी हरी तान
 जलामों का नम जमता बंधल
 रजत बुहागे में शप में
 माया प्रांतर हो जाता ओमल ।

विपरी

संभव पुरा सुम्हारी मोची
 किन्नर मिथुनों से हों कूजित
 छाया मिथुन बूहाएँ समब
 रवि सीरम से सतत चम्कूबसित
 औपचिमाँ जल जल दरियों के
 स्वप्न कला कल्यों हों बीपित
 मोसों के वन में मिलते हों
 स्तन हारों के मुक्ताफल स्मित !

मदन दहम की जलम जलिक में
 उड़ जब तक तन करती पुकड़ित
 छती जपचा के तप से
 जमयी जवाक छी जमयी बिस्मित
 जब भी उदा बहा बीकरी
 बन् उदा के मुख-सी सज्जित
 बहती बह कला भी गिरिजा छी
 ही गिरि के कोढ़ में सदित !

जब भी बही बसंत विकरता
 पुष्प छोटे से मर दिवत स्मित
 बबोहाम बरा बह ही पापान
 मिताएँ पुसक पल्लवित !
 जब भी प्रिय पीर का दीवार
 बर्षत करे जब पिक मुकुरित
 शिवदाह के ऊर्ध्व सितर
 बीते ही छकर-से समाधि स्थित !

बीरगी

सभी उत्तरता कूर्म सानु पर
 ब्रह्म बीड़ा परिणत गत्र धन
 बातायम से मंद स्तनित कर
 देता कवि सविद्या आर्द्र स्वयं।
 अब भी बलकों उठा हरती
 ग्राम बभू उत्तरी सरस नयन
 शुभ्र बसाकों के बल नम म
 कल ध्वनि भर करते अभिवादन !

आज जीवनोदधि के लट पर
 लड़ा बबांछित दुष्प उपमित
 देखा रहा मैं शुद्ध अहम् की
 गिरर लहरियों का रण कुल्लित
 नाच रहा तिमके पौरव से
 मेरा यह अंतर जय निमित्त
 सपता तब है प्रिय द्विमात्रि
 तुम मेरे गिराफ रहे अपरिचित !

और, पूछता मैं मन से क्या
 यह धरती रहे सगती जीवित
 जो तुम स्वर्गित परिमा भू पर
 बरमाने रहने न अपरिमित ?
 गिरर गिरर ऊपर उठ तुमने
 मानव आत्मा कर दी ज्योतिष
 है अभीम आत्मानुमति में
 तीन ज्योतिष शृणों के भूमन !
 पचासी

भगीमूत ब्रह्मात्म तत्त्व-से
 जिससे ज्योति सच्चि वात नि-सृत
 प्राणों की हुरियाली से स्मित
 पृथ्वी तुमसे महिमा भंडित
 स्टाटिक सीब-से श्री शोभा के
 चरित रेख शृंगों से कल्पित
 स्वर्न सह तुम इस बसुचा पर,
 पुष्प तीर्थ है, बेब प्रतिष्ठित।

(१९४६)

॥ सुपर्णा ॥

दो पत्नी हैं सहज सखा संयुक्त निरंतर,
 दोनों ही बैठे अनावि से उसी वृक्ष पर !
 एक के रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण
 बिना अक्षय वृक्षरा देयता अंतर्भोजन !
 दो मुहूर्तों-से मर्त्य अमर्त्य सयोनिज होकर
 मोयेच्छा से प्रसिद्ध भटवते नीचे ऊपर
 सदा साथ रह, लोठ लोठ में करने विचरण
 मात्र मर्त्य सबको अज्ञात अमर्त्य चिरवन !

कहीं नहीं क्या पत्नी जो चपटा जीवन फल
 बिना वृक्ष पर भीट देसता भी है निश्चल
 परम अहम् भी द्रष्टा भोला विषम सँग सँग
 पत्नी में बहिरंतर के सब रक्त स्पर्श रँग !
 ऐसा पत्नी विषम हो संपूर्ण संतुलन
 मानव बन सकता है निमित्त कर वह जीवन !
 मानवीय संस्कृति रक्त भू पर आत्मत घोरन
 बहिरंतर जीवन विक्रम की जीवित दर्पण
 भीतर बाहर एक शून्य के दो सुपर्ण द्वय
 जीवन सफल ज्ञान पर संतुलन जो विजय !

(१९४५)

ज्योति भारत

ज्योति मूमि
जब मारता बैश ।
ज्योति करन जर जहाँ धम्मरा
उठरी तेबोमेव ।

समाधिस्व सौन्दर्य हिमाश्रय
स्वेत घाति आत्मानुमूर्ति कम
मंगा यमुना बर ज्योतिर्मय
हैसता जहाँ अशेष ।

फूटे जहाँ ज्योति के निर्जर
जान भक्ति पीठा बंधी स्वर
पूर्ण काम बिस बंजन रज पर
सोते हँस सोकेस ।

रक्त स्नात मुष्कित बरसी पर
बरसा जमुत ज्योति स्वर्णिम कर
दिप्य बैरना का प्लावन गर
सो कम को आरेस ।

(१९४६)

झपा पट

मन जसता है
 बरबार का लण जसता है
 मन जसता है।
 मेरा मन तन बन जाता है,
 तन का मन फिर कट कर
 छेँ
 बन बन ऊपर
 उड़ पाता है।
 मेरा मन तन बन जाता है।

तन के मन के ध्वज नयन हैं,
 जीवन स संरक्ष यहन हैं
 कुछ पहचाने कुछ पायन हैं
 जो मुग दुग के सन्तान हैं।
 जब यह उड़ जम स रग जाना
 जीवन की रज निपटा जाता
 फिर मेरे जतना मयन में
 दंभनुय मन बन मुमकाना।
 नहीं जानता जब कैसे फिर
 यह प्रकाश तिरणें बरमाना।
 बाहर भीतर ऊपर नीचे
 मेरा मन जाना जाना है
 सब ध्वज बनना जाता है।

तन के मन में बही अनन्ति
 भाषा का मन है बिर ज्योतिन

महामो

इन छाया वृक्षों को जो
 निज आभा से ढर होता जीवित
 यह आराग प्रदान मुझे
 आये कैसे क्या सिक्कता है !
 क्या है ज्ञेय ? कौन ज्ञाता है !
 मन भीतर बाहर आता है !

मन जलता है
 मन में तन मे रण जलता है,
 चेतन अबचेतन निरा नव
 परिवर्तन में डलता है !
 मन जलता है !

(१९४५)

सविता

सो सविता आता सह्यकर,
सविता सगम्बल ध्योम पृष्ठ पर,
मध्य रश्मियों से ज्योतिर्मय
अतरिक्ष को आलोकित कर।
सप्त अरु से सप्त लोक कर
पार, बेग में दिव्य तेज भर
बह महेन्द्र आ रहा पिरा निज
किरणों से विमुक्त का तम हर।

उठो मनुष्यो जागो करो
उपार्जों का दिव मे अभिवादन
मार्ग उन्होंने लोक दिया
सविता का जो ज्योतिर्मय पूजन।
अंधकार हट गया प्राणमय
नव जीवन हा रहा प्रवाहित
बह महेन्द्र आ रहा रश्मियों से
आमृत प्रकाश से आवृत।

अंबलङ्कि पर धनने वाले
आज पा गए हैं अभिनव पथ
नव प्रकाश का सूर्य उन्हें
मिल गया समस्त मत्त अन्ध रूप।
स्वर्ग ओर निज पावमान जग
दिव्य हंस के पंख ज्योतिर्मय
पंखे हुए सद्गुरु दिना न
बहुता ही जाना वह निभय

इन्द्रादित्य

सब भुवनों को बेशका हुआ,
 देवों को से हृदय में सफ़स
 व्याप्त सर्व लोकों में वह
 ऐसे अपार पलों में विक्षिप्त !
 हाउ हाउ वह स्वर्ग पुरुष
 वह प्योति पुरुष मैं हूँ अजर अमर,
 शरछे सप्त बार सीने के
 सतत मातरिजा से निरंतर ।

(१९४५)

बन्दे मातरम्

बन्दे मातरम् !
जन भरणी जन भरणी
रत्न प्रसविनी मातरम् !
मूल्य हरित पिक कूजित जीवन
अनिच्छ तरंगित उषधि जल वसन
छत्र मूल्य शशि क्षीप्त मृत मयम
प्रणयादांभी स्वर्ग चिरतम
बन्दे मातरम् !

बजे शक्ति सूरि जन मातम
कुटुम्ब कुटुम्ब हो जय कुटुम्ब स्वन
जीवन हित मानव करे मरक
मृत्यु बंध में भी पार्य जन
बन्दे मातरम् !

मू मन कटू बड़ बयन
कटि रीति म मुक्त पने मन
न्य दुर्गि के हटे तमस मन
स्वर्ग प्रमान जड़ित हों प्राणन
बन्दे मातरम् !

शिरा मोह-धम मे हों हृषित
शान बिस्व रचना में योजित
मय संस्कृति में देन हों प्रवित
जन मंगल जगत समुज्ज्वित
बन्दे मातरम् !

सामजस्य

मात्र सत्य बोली मुक्त मटना
 मूम—मैं की सीमा है बन्धन
 मुझे सुझाता बाधक-सा नम्र में
 मित्र जाना को अपमान।
 य पाश्चि संकीर्ण हृदय है
 मोल तोल ही इनका जीवन
 नहीं देखते एक बरा है
 एक पयस है, एक सभी जन।

बाकी वस्तु सत्य मुँह बिचका
 मुझे नहीं माता यह दर्शन
 मित्र देह है बड़ी मित्र उचि
 मित्र स्वभाव मित्र सबके मन।
 नहीं एक में भरे सभी गुण
 इन अपत में है नापी नर
 स्नही प्रोही मूर्ख चतुर है
 बीज बनी कुम्भित भी सुन्दर।

मात्र सत्य बोली मुसका कर,
 मझे डाढ़ दोनों का कारण
 मैं जानों को नहीं धूँसी
 दोनों का करछी संवासन।
 पय खान सपने उड़ जाते
 सत्य न बड़ पाता मित्र गिन पय
 सामजस्य न यदि दोनों में
 रखती मैं क्या बस सजता जब।

पतिता

रोगा हृदय मार कर मायब
 बुढ़ पड़ोसी जो बिर परिचित
 मूर सुन्दरे, हृदयारे—कर गए
 बड़ को नीच कसकित !
 पूरा करम ! बरम भी मूटा !
 सींग हिना रोते सब परिवार
 हा बमायिनी हा कर्मकिनी
 गिमत रहे ना-ना कर पुरजम !

छिपक रही सहमी कोने में
 बबला साँसों की-सी डेरी
 कोम रही घेरे पड़ोसिने
 माँत चुपची पर की बेरी !
 इतने में घर बावा केजब—
 हा बेटा कर दाखन रोदन
 माया लठे पीट कुदुम्बी
 छिप्र सठा सा कोप उठता तन !

सब मुन चुका ! बीखता केराब
 बन्द करो यह रोगा बाना
 उठो मासत्री लीस बायपा
 तुमको घर का काका कोना !
 मन में होने मनुन कसकित
 रज की बेह सग से कसपित
 प्रम पतिता पावन है तुमका
 रहने दुँया में न कसकित !

आशाव

पैगंबर के एक शिष्य ने
पूछा हजरत बन्ने को एक
है आशाव कहाँ तक ईसाई
दुनिया में पाबंद कहाँ तक !
बादे रहो ! जोले रमूम तब
मच्छर पैर उठामो ऊपर !
जैसा हुक्म ! मुरीब सामने
सड़ा हो गया एक पैर पर !

ठीक बूसरा पैर उठामो
जोले हैंड कर नबी फिर तुल्ल
बार बार बिर, कहा शिष्य ने
यह तो नामुमकिन है हजरत !
हो आशाव यहाँ तक कहा
तुमसे एक पैर उठ ऊपर
बैब हुए दुनिया से कहा
पैर बूसरा अड़ा जमी पर—
पैगंबर का वा यह उत्तर !

(१९४५)

स्वप्न-बंधन

बाँध लिया तुमने प्राणों को धूलों के बंधन में
एक मधुर जीवित आभा सी मिट गई तुम मन में !
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आसिजन में !
तन की सी घामाएँ सम्मुख खसती फिरती लगती
नी नी रँगों में प्राणों में तुम्हें बसना रँगती
मानसि तुम नी बार एक ही क्षण में मन में जगती !

तुम्हें स्मरण कर जी उठते यदि स्वप्न आँक उर में छवि
त। आश्चर्य प्राप्त बन जाएँ गान ! हृदय प्रणयी बनि !
तुम्हें देस कर मिथ्य चाँदनी भी जो बरमावे रनि !
तुम सौरभ सी सहज मधुर बरबस बस जाती मन में
पतझर में छाती बगल रम ग्रास बिरस जीवन में
तुम प्राणों में प्रलय गीत बन जाती उर कंपन में !

तुम देही हो ? दीपक लौ भी बुझनी कनक लक्ष्मी
मौन मधुरिमा भरी नाज ही भी मारार मञ्जीरी
तुम नारी हो ? स्वप्न बगल भी गुरुमार सज्जीनी !
तुम्हें देगल दोभा ही ज्या सहरी भी उठ आई
बंध भगिमा तनिमा बन मृदु देही बीच समार्
बामनदा बोलल अंधा में पहिले तन धर पाई !

दूर गिल उठ तुम बीबी ही मू को सी निगलार्
मुग्धता बधुपा पर गिल भी नी रंगा में टार्
छाया सी ग्योपना मनुषी प्रणिछवि सी जगलार् !

सतानवे

तुम में जो आकाश मजुरिमा जो असीम सम्मोहन
 तुम पर प्राण गिराकर करने पागल हो छठठा मन
 नहीं आगती क्या तुम निज बल निज अपार आकर्षण !
 बाँध किया तुमने प्राणों को प्रणय स्वप्न बन्धन में
 तुम जानो क्या तुमको भाया मर्म किया क्या मन में !
 इन्द्रधनुष बन कर हँसती तुम बसु बाँध के बन में !

(१९४३)

बर्षेन क्योरे,
 हो मरुत न,
 बरार बरार!
 स्वन क्योरे
 लो सरे!
 क्योरे सरे!

कलशो-युग

रेन रहा है शुभ्र चाँदनी का सा निर्झर
 कलशो मुन अवतरित हो रहा जन घरणी पर!
 निरुत युगों के तोरण गुंजा मीनारों पर
 न प्रवास छोडा रेस्ताओं का जादू भर!
 लंबीकन पा जाम उठा हो राष्ट्र का मरण
 क्योरे-भी जाय बल रही भू पर चेतन—
 जन जन में जय दीप दिना के पम धर नूतन
 भावी के नव स्वप्न बर पर करते विचरण!

सत्य अहिंसा जन अन्तराष्ट्रीय जागरण
 मानवीय स्पर्शों से भरते भरती के वन!
 मुका लड़िए अधु के अन्धों को कर आरोहण
 नव मानवता बरती गांधी का जय घोषण!
 मानव के अन्तरतम शुभ्र तुषार के छितर
 मध्य चेतना मंडित स्वप्नित सठे अब निरार!

(१९४८)

भारत गीत

जय जन धारत जन मन अभिमन

जन जन संन विधाता !

मीरब माछ हिमालय उज्ज्वल

हृदय हार संमात्रल

कटि विन्ध्यवासि सिन्धु चरण तल

महिमा धास्वत पाता !

हरे सैत लहरे नभ निर्मल

वीरन सोमा ऊर्ध्व,

विष्णु कर्म रत कोटि बाहु कर

अमणित पद भुज पत्र पर !

प्रथम सम्मता आता राम ध्वनित पुत्र पाता

जय नव मानवता निर्मिता

सत्य बहिष्ता दाता !

जय हे जय हे जय हे, धाम्नि अचिन्ता !

प्रयाण तूर्य बज्र उठे

पटह तुमुल धरज छटे,

निधाल सत्य सैव्य नीह भुज उठे !

धाम्नि स्वकपिणि बहु बल बाणिनि बलित मागुत माना

धर्म नक रक्षित तिरय ध्वज अपराजित मज्जता !

जय हे जय हे जय हे अमय अमय माता !

विहंग

मैं जब मानवता का सबसे सुनाता
 स्थायी सोक की गौरव गाथा गाता
 मैं मनःशिरिश के पार मीन छात्रवृत्त की
 प्रगल्भ भूमि का ज्योतिबाहु बन जाता।
 बुध के खंडहर पर डाल सुनहली छाया
 मैं जब प्रमाद के नय में उठ मुसकाता
 जीवन पगलर में जन मन की डाँखों पर
 मैं जब मध के ज्वाला-पल्लव सुझाता।

जावेदों से उठेसित जन सामर म
 जब स्वप्नों के तिलों का ज्वार उठता
 जब निर्गिर जग बन-रोदन करता मू मन
 घुम रिक्त बन प्राणों का पावक बरसाता।
 मिट्टी के पैरों से भव-कक्षात जनों को
 स्वप्ना के चरणों पर बसना सिखाता।
 तारों की छाया ग बलपित अंतर को
 उन्मुख प्रकृति का धोधा बरा दिनाता।

जीवन मन के भेदों में छोई मति का
 मैं आगम एकता में अनिमप बनाता
 तुम पगु बहिर्मुख जग मे बितरे मन को
 मैं प्रभार सोपानों पर ऊर्ध्व बढ़ाता।
 आँखों के मद जल से दग्ध मृगों को
 मैं स्वगया त्रिपु अर्पण बतलाता
 पन जग को जब मानवता में जागत कर
 मैं मुक्त बड़े जीवन रस रंग बनाता।

एक सी एक

मैं पीत बिहुण निज मर्त्य पीड़ से उड़ कर
 चेतना यमन में मन के पर फैलाता
 मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
 जीवन के तम को स्वर्णित कर लहछाता।
 मैं स्वर्गुतों को बाँध मनोमाशों में
 जन जीवन का मित्र उनको अंग बनाता
 मैं मानव प्रेमी नव नू स्वर्ण बसा कर
 जन बरणी पर देवों का विभव सुटाता।

मैं व्यस्य मरण के द्वारों से बाहर कर
 मानव को इसका जमरासन दे जाता
 मैं विम्व चेतना का सूरिस सुनाता
 स्वाधीन नृमि का स्वर्ण आनरण पाता।

(१९४९)

निर्माण-काल

जो मान सरोखों से उड़ कर
फिर देवदूत भाते भीतर,
गुरुगुरुओं के स्मित पंख खोल
नव स्वप्न उतरते जन भू पर।

रंग रंग के छाया पंखों की
आभा पंखड़ियाँ पड़ती सार
फिर मनोमहुरियों पर विपरीत
विनिवृत्त गुरु अप्सरियाँ निःस्वर।

यह है भू का निर्माण काल
हुँसता नव जीवन बरबोस
मे रही जग नव मानवता
नव लक्ष मनुजता होती क्षय।

भू भू कर जलता जीवन जगत
लिपटा ज्वाला में जग अंतर,
तम के पर्वत पर टूट रही
विष्णु प्रपात-सी ज्योति प्रखर।

संघर्ष पर बह संघर्ष
यह बिंदु मौलिक भू कंपन
उत्पन्न जग मन का समुद्र
मुग रक्त बिह्व करता गर्वन।

६५ रह अंध विरचाम भूग
मुग बदन रहा यह बह बहन

फिर सिकर धिरंगन रहे निकर
मह निरुध संवरन रे नूतन।

वज्र रहे धटियों से तस्कर
छवि ज्वाला पल्लवित्त बग पीवन
नव ज्योति चरण चर रहा सुवन
फिर पुष्प वृष्टि करते सुरवन।

जव स्वर्ण इवित रे अतर्ज
झरते मीरव घोसा निर्जर
अकतरित हो रही सुकम पक्ति
फिर मीन गुजरित चर अंबर।

बैबटा प्रकाश तम बाहों मे
गुर मानव तन कछे धारन
फिर मोह फटना रगभूमि
मू स्वर्ग कर रहे परिमम?

(१९४९)

पुण-दान

जीवन बाँहों में बाँध सख्त
सीन्दर तुम्हारा गिर नूतन
बन बन में मैं मर सकूँ अमर
संजीत तुम्हारा मुर मानन।

खानद तुम्हारा बरस सके
बस व्यथा कलात उरके भीतर,
जब जीवन का बन सके जंग
देवत्व तुम्हारा लोकोत्तर।

बरपा घाट से मानव का
मू निर्बन्ध अंतर हो उर्बर,
संपुष्ट कर्म जग जीवन के
तुमको अर्पित हों उठ अमर।

जब मनुष्यत्व में मनोमुक्त
देवत्व रहा रे धनी निखर,
मू मन का मोल स्पृहा स्वर्ग
फिर विचरण करने को मू पर।

यह मबहार का मोर प्रहर
हो रहा हृदय केतना द्रवित
फिर मानवीय बन बाध रही
जह भूत धनियाँ अभिसारित।

राश्यों के निर पर पुण मुहुट
ज्यों रंध पवन-उर में मानन
जीवन से मन से फूट रहे
तुम मब भी मोभा में केतन।

नमः

जपन तुम्हें करता मन !
है जन के जीवन के जीवन
प्रीति-मीन प्रति उर स्पन्दन में
स्मरण तुम्हें करता मन !

जगू सजल जब मेरा जानन
तुहिन तरल बारिद के लोचन
मह मानस स्थिति स्मृति से पावन
करता तुम्हें समर्पण !

तुम संतर के पत्र से जानो
धिर भङ्गा के रस से] जानो
जीवन बहुबोध संघ जानो
नव प्रभात युग नूतन !

बड़े शक्ति में स्वर्गिक पावन
स्वप्न धूल लोचन हों अपकृत
रंग दे श्री योग्या का जावन
जीवन के पग प्रतिक्षण !

जाव व्यक्त के उतरो नीतर
निद्रित विश्व में विचरो बाहर
कम वचन मन जन के उठ कर
बने युक्त भावजन !

असकत हो जब थात मनोवत्त
जावेगी से संतर विह्वल
गुप्त कल्याण-कर से छ उज्ज्वल
जड़ता कर हो वेतन !

सिन्हासा

कौन सोत ये !
 ये किन आकाशों में लोप
 किन आकाश सिलसिलों से छूटे
 किन प्रशांत समस्त प्रदेश में
 रजत फल मुक्ता रत्न भरते !
 ये किन स्वच्छ जलधाराओं की
 बीच भीतिमाओं में बहते
 किन गुप्त के प्यों में स्वर्णिम
 दिग्गोरां में कौत रहने ।

कौन गोन ये !
 किन्हीं के वृत्तों पर लिखते
 भावों के मरते स्वप्न त्यक्त
 मनोव्यंग्यो पर विचित्र कर
 रक्त बीच मिन भीम प्यानि बल !
 भावहीन गौरव में मग्नित
 हा उटना उस्खलित निबल
 रहन मुखन में लय होना
 राक्षसीन तमय मंथन ।

कौन गान ये !
 धडा भी शिखाय गहन
 राख धराधों के-में जाह
 गिले नाशिर उर मग्नी में
 गुप्त गुनहनी धीवा मोहे !

सीमा की स्वयिक जड़ान स
 मर जाता सहसा अपलक मन
 बजते सब छंदों के मृदुर
 अकिञ्चित् गीतों के प्रिय पद बन।
 वह पाते सीमार्जों के तट
 हलों के प्यारों में अविश्रुत
 लहरा उठता अतम मीन से
 नाम रूप के ऊपर दास्यत !
 कीन सोन ये ।

(१९५४)

शांति और क्रांति

शांति चाहिए शांति ! रक्त जबकास चाहिए
मानव को, मानस वह महत् प्रकाश चाहिए
जाग्या वह ही अस, वरुण आकास चाहिए
दही भी वह —आज मुक्यत बेही वह, जन—
मतादिनामी —आधा बनना है कल उनको ।

हम जमाया, घुरी तरह ॥ उलझ गया वह
बाहर के जग-जग में बाहर के जीवन में—
जहाँ ममानव बीचदार छाया घुमात का !
मानव के भीतर का जग, भीतर का जीवन
आज गोलका मूना जीवन-मृत छाया छा—
गन संस्कारों से जालित वेतों में पीड़ित !
गार्द संदक में छोहों में बीहड़ मग में
मटर गण जन के पद संदक की रैली में !
हल हल में कौन गया मल भीनिव दुग गल छा
अपनी ही गरिमा के दुमह बोझ में दबा !
जीवन तुलना जलती के पाटों में उनके
आपन पेशों से है विरट गई बड़ी बन !
घुट्ट, निर्बुग उज्ज्वलम नर आज शील के
स्वर्णाभुन के प्रति अमहिप्पु बहना शानि !
गांध रहा मैं—नहीं स्पष्टत देग छा मैं
मटर घुमातर आज उपगियन मनुब द्वार पर !—
बरन रहे मानव के भीनिव बायिर मानिब
मूख्य मानविक स्तर, आध्यात्मिक धुवन जगाकर !
बन्ध रहा निर्मोघ मानव ईश्वर भी अब—
दुग दुग में जो परिचायिब कग्ना जाता निर

मानव जब को लोक नियति को पीसन मन को।
 सैबी स्थिति से उच्च जागृत स्थिति तक सम्प्रति
 ब्रूम रहा युग परिवर्तन का एक बहुषिष्ठ।
 आज जोर धम कोलाहल के भीतर भी मैं
 सुनता हूँ स्वर धव्य हीन संवीर्य अतंत्रित—
 मन के व्यक्तों में जो यूँया करता अविरत।
 इस अनु उद्जन के विनाश के वाक्य युग में
 युजन निरत है सूक्ष्म सूक्ष्मतर अमर स्रष्टियाँ
 मानव के अंतरात्म में—विनका स्वर्णों का
 अलय धीमव अतिश्रम कर युग के यथार्थ को
 अकथित सोमा युवनों में पस्तकित हो रहा
 मानव की अपलक आँखों के सम्मुख प्रतिभन।
 मूर्ख युजन चल रहा नाश के स्तूल चरण धर।

कवि कपोल कल्पना नहीं—अनुसृत सत्य यह
 चोम आठियों के युग का निभोंत सत्य यह,
 आरीहल कर रही मनुज बैठता निरंतर
 शिखरों से नव शिखरों पर जब उठती दिष्टी
 मपपन करती कराहती—धिर अपराधित।
 इसीलिए, मैं आवि बाँधि-संहर युजन को
 विमल पराजय प्रेम बुजा अस्वान पतन का
 आया कुंठ को युग के मुन्दर नृरूप को
 बाँहो मे हूँ आज समेटे—उन्हें परस्पर
 पूरक एक अभिन्न मान कर—युग विवर्त के
 अवन किमकारों में ध्यानावस्थित रह कर।
 विमल क्या यदि बरल रहा आधिक सामाजिक
 आधिक वैयक्तिक मानव? यदि मनुज बैठता

अब सामूहिक बर्ग हीन बन रही बाह्यतः,
 बिगड़ रहे यदि बिगड़ चुकों के मन संगठन?—
 क्या आदर्श बदलता यदि आमुल मनुष्य भग !
 स्वयं युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब
 निरपेक्षता उपभोग अंतर्द्वन्द्व के जग
 परिवर्तित हो रहे नए मूल्यों में विचलित !
 उन पर आश्रित निराल सांस्कृतिक सम्बन्धों का
 क्यातर हा रहा आज—आदर्श शिथिल में
 घूम घुम जो उपोक्षित हो रहे धरा पर !
 बिगड़ निपेक्षा रुढ़ि बर्बनाओं की लहमा
 उग्र विग्रह कर आने प्रलयकर प्रवेग में—
 विस्मृत कर जीवन पथ निम्न प्राणों का रथ !
 शैथिल्य आध्यात्मिक अनीत सन्तान कर रहा—
 निगड़ रहे आरतों लोक, मोदय तब नभ !
 आज क्या मानव ईश्वर अवनतित हो रहा
 स्वर्ण रत्नियों में विमल ऊषाओं के रथ पर
 लड़ित स्फुरित लज्जाओं में लिपटे पवन मा
 जगज्जिग मुन बीषाओं के लहूँ निगड़ मा
 उग्रत भगा मैं गुजिल अब कुसुमार मा !

घग्ने गग मीलनार आज बाहर गग पल्लवर
 मुल्लम रहा नीलर अब मधु का स्वर्णिक पावर !
 आत्मा के नापतनम अंतर में प्रवेग कर
 मानव मन हो अधिक पूर्ण गुण रहा बलिभुग !
 आज गग के कर गड़ रहे मरुत मानव की
 नभ इंद्रिय बहु बिचलित इन्द्रिय अनि इन्द्रिय अब !
 बगल रहा अब मानव ईश्वर—बदल रहा अब
 मानव अंतर, मानवता कर अन्तरित कर !

यह घरती कितना बेती ह

मैंने छूटपन में छिगकर वैसे बोए थे
सीचा या वीसों के प्यारे पेड़ उबरे
कपड़ों की कलशार मचुर फल्लें खगलेंगी
और, फूल फल कर, मैं मोटा सेठ बनूँगा!
पर, बबर बरती में एक न अंकुर फूटा
बंघ्या मिट्टी ने न एक भी वीसा उगला—
सपने जाने कहाँ मिटे, कब बूझ हो गए!
मैं हताश हो बाट जोहता रहा चिनों तक
बाक कल्पना के अपलक पाँवों बिछा कर।
मैं अबोध था मैंने प्रकृत बीज बोए थे
ममता को रोपा था तुम्हा को सीचा था।

अर्धघटी हुईयती निकल गई है तब से।
किछने ही मधु पतझर बीज गए अनजाने
सौप्न ठपे वर्षा झुली घरवें मुसफाई,
सी सी कर हेमंत बँपे तब सरे, बिले बन।
औ जब फिर से नाड़ी ऊँची जाकसा लिये
महरे कबरारों बावक बरले बरती पर,
मैंने कौतूहल बघ जाणम के बने की
बीसी वह को धों ही खँगली ॥ लहलाकर
बीज सैम के दबा दिए मिट्टी के नीचे!—
मू के संकल में मधि माधिक बाँध दिए हों।
मैं फिर भूख गया इस छोटी सी बटना को
भीर बात भी क्या बी बाह जिसे रसता मन।
किन्तु, एक दिन जब मैं संध्या को जाँघम में
एक सी बाण्ड

टहल रहा था—तब सहमा देने जो देगा
उमने हर्ष बिम्बु हो सटा मैं बिस्मय से।

देगा आँगन के कोने में कई नवागज
छोटा छोटा छाता छाने पड़े हुए हैं।
छाता बहूँ दि बिजय-नताछाएँ जीवन की
या हवसियाँ गोले व बे नन्ही प्यारी—
जो भी हा, बे हरे हरे उत्साह से भरे
पंख पार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे—
हिम्ब छोड़ कर निजले चिड़ियों के बच्चों-से।
निनिमेष क्षण भर मैं उनको रहा हैसना—
सहमा मुझे स्मरण हो आया—बुछ दिन पहले
बीच सेम के रोने से देने आँगन में
और उन्हीं मे बीने पीधों की यह पलटन
मरी आँगों के सम्मुख अब पड़ी गर्ब से
मगहें नाटे पंख पटक बढ़ती जाती है।

तब से उनको देगना रहा—धीरे धीरे
अनगिनती पत्तों से कर कर कई आदियाँ,
हरे भरे हों गए कई भग्नमयी बँशोबे।
बेबें पैस गई बस गा आँगन में सहच—
और नहाय लेकर बाड़े की टूटी का
हरे हरे सी शरभ पूर पड़े ऊपर को—
मैं आबार रह गया रंग बीमे बढ़ता है।
छाँटे तारा-मे टिनरे, बूणों के छीटे
आँगों से निजले लहरी द्यामल स्तनों पर
गुम्बर लगने से आबग के हँसमुख भय मे
भोगी के योगी-मे आँखन के बूंग मे।

ओह समय पर उनमें कितनी फकिर्मां टूटीं !
 कितनी सारी फकिर्मां कितनी प्यारी फकिर्मां—
 पतली चौड़ी फकिर्मां ! सफ़, उमकी क्या गिनती !
 लम्बी छम्बी अंगुलियों-सी लम्बी लम्बी
 लछ्मबारों-सी पसे के प्यारे हारों-सी
 झूठ न समझें बन्ध-कलाओं-सी नित बड़तीं
 सच्चे मोती की छड़ियों-सी डेर डेर तिल
 झुंड झुंड सिक्कमिछ कर कचपचिया तारों-सी !
 आः, इतनी फकिर्मां टूटी जाइँ पर सार्ह
 मुक्कह शाम डे भर भर पकीं पड़ोस पास के
 जाने अनजाने सब छोपीं में बँटबाई,
 बन्दू बाबबों मिर्गों बम्बागल भँगतों ने
 जी भर भर दिन रात मुहल्ले भर ने खार्ह—
 कितनी सारी फकिर्मां कितनी प्यारी फकिर्मां !

महु बरती कितना बेटी है ! बरती माता
 कितना बेटी है अपने प्यारे पुत्रों को !
 लही, समझ पापा या मै उसके महुल्ल को—
 बचपन में कि, स्वार्थ लोभ बरा पैसे बोकर !
 रत्न प्रसविनी है बमुबा अब समझ सका है !

इसमें सच्ची समता के जाने बोलें हैं,
 इसमें जन की समता के जाने बोलें हैं,
 इसमें मानव-समता के जाने बोलें हैं
 तिससे जगस सके फिर धूळ मुनहली फसलें
 मानवता की—जीवन बय से हँसे दिखाएँ !—
 हम पैसा बोएँ नैसा ही पाएँ !
 (१९५६)

एक सी बीरह

अनुक्रमणिका

बहु निष्कृत परिवर्तन !	२८ ✓
संस्कार की युवा सरीसौ उन जाँतों से डरता है मन	६७
मात्र तो सौरभ का मधुमास	२५ ✓
इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही	१४ ✓
एक बीणा की मधु संस्कार !	८ ✓
कहेगे क्या मुख से सब कोम	२१ ✓
किन तन्वों से गड़ आवागे तुम भाबी मानव को ?	६०
कीन श्रोत्र से !	१००
गा कोरिल बरसा पावक कम !	५० ✓
छोड़ हमों की मधु छाया	१ ✓
जग के उर्बर आँगन में	३६ ✓
जप जन भारत जन मन अभिमत	१००
आधू बिछा दिया जल भू पर !	७८
जीवन-बाहों में बाँध मई	१०५
पयानि भूमि जप भारत देश !	८८
इत शरा जमन के जीर्ण पत्र !	४९ ✓
देख गगन है मुख चाँदनी का सा निहार	००
हो पड़ी है मलय मग्न मयुक्त निरंतर,	८७
ममन तुम्हें करता धन !	१०६
निप का यह अनिप कर्मज	६० ✓
निगिण बन्धनामधि अवि अपरि !	४३ ✓
मीरब मध्या में प्रमान	१० ✓

प्रलय रवि का खाना रंगिनि ।	३ ✓
प्रलय नहीं मानव जग को यह समीक्षण उल्लास	६३
पावस ऋतु भी पर्वत प्रवेश	६ ✓
पुस निधा का प्रथम प्रहर लिङ्गकी से बाहर	७३
पर्वत के एक छिपे में	९६
बाँध लिया तुमने प्राची को कुर्सी के बन्दन में	९७
भाटा भाटा ग्राम वासिनी ।	७०
भाव सत्य बोली मुझ मटका	९४
मन जलता है,	८९
माँ मेरे जीवन की हार	९ ✓
मानव मू के बसंड है,	७९
मिट्टी का यह बंधन	५२
मुझे क्या ही माता	१२
मेरे जीवन में (टीके पर है मेरा घर)	५७
मैं जब मानवता का सम्बन्ध सुनाता	१०१
मैंने छूटपन में छिपकर बैठे हुए थे	११२
यहाँ न पत्थर जग में मर्मर	११
राजनीति का प्रलय नहीं रे मानव जग के सम्मुख	७६
रंग रंग के बीरों से भर जग बीरवासा-से	७२
रोना हाव मार कर मानव	९५
ओ सविता माता धृष्टकर,	९१
को भाव करोकों से उड़कर	१०३
यह जीवन संगीत जीवन हो शिवाय जग-जीवन संगीत	११
बन्दे मातरम्	९३
बापी बापी जीवन की बापी दो मुझको यास्वर ।	६४
विज्ञान ज्ञान बहु सुख्य सुख्य बहु नीति धर्म	७७
बिरह है अपना यह बरदान	१०

दान्त स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल !	४० L
गाम्भी चाहिए गाम्भी ! रजत भवदाम चाहिए	१०९
स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब मंगार	१२ L
मरु मरु मरु मरु रैचम के-ने स्वर भर	५९
मुरपति के हम ही हैं अनुचर	१७ L
मुग्ध हैं बिहम मुग्ध मुग्ध,	५४
हाय ! मुरमु का ऐसा ममर, अपासित पूजन,	५९